विवेक-ज्योति

वर्ष ४०, अंक ५ मई २००२ मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छत्तीसगढ़)

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मई २००२

प्रबन्ध-सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४०
अंक ५

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,०००/-
विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर
(हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर - ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२५२६९, ६३६९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

श्रीरामकृष्ण शरणम्

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर - ४९२ ००१ (छ.ग.)

सादर सनम्र निवेदन

आत्मीय बन्धु/भगिनी,

स्वामी विवेकानन्द, अपनी जन्मभूमि कलकत्ता के अतिरिक्त सम्पूर्ण पृथिवी में सबसे अधिक समय तक लगातार रहे हों, ऐसा स्थान है, तो वह है 'रायपुर नगर'। रायपुर में सन् १८७७ से १८७९ में अपनी किशोर अवस्था में स्वामीजी दो वर्ष रहे थे। उन्हीं की पुण्यस्मृति में रायपुर आश्रम का नामकरण रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम किया गया है।

यह आश्रम गत लगभग ४० वर्षों से नर-नारायण की सेवा में समर्पित है। आश्रम में निम्नलिखित सेवा विभाग हैं –

(१) धर्मार्थ औषधालय – नेत्ररोग विभाग, स्त्रीरोग विभाग, दन्तरोग विभाग, शिशुरोग विभाग, एक्स-रे विभाग, मनोरोग विभाग, हृदयरोग विभाग, पैथोलॉजी विभाग, नाक-कान-गला विभाग। (२) फिजियोथेरेपी (३) होमियोपैथी (४) ग्रन्थालय – (अ) विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-पुस्तक विभाग (ब) सामान्य ग्रन्थ विभाग (स) पत्र-पत्रिकाओं सहित निःशुल्क वाचनालय (५) विद्यार्थियों के लिये निःशुल्क छात्रावास (६) श्रीरामकृष्ण मन्दिर (७) साधु-सेवा (८) गोशाला (९) स्कूल के गरीब छात्रों हेतु निःशुल्क कोचिंग क्लास।

इन वर्षों में आश्रम की सेवा गतिविधियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई, परन्तु उसकी तुलना में आर्थिक अभाव के कारण आश्रम के भवनों आदि का विस्तार नहीं किया जा सका है। इसलिये अब आश्रम के कुछ विभागों में स्थान-विस्तार की नितान्त आवश्यकता है। उसी प्रकार आश्रम के पुराने भवनों की मरम्मत, रंग-रोगन आदि भी कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

आश्रम में दो प्रकार के सेवक हैं – (१) साधु-ब्रह्मचारी (२) वेतन-भोगी

साधु-ब्रह्मचारियों के भरण-पोषण तथा वेतनभोगी सेवकों के वेतनादि के लिये भी आश्रम को स्थायी कोष की आवश्यकता है। आश्रम के सेवा-कार्यों तथा सेवकों, साधु-ब्रह्मचारियों आदि का भरण-पोषण आप जैसे उदार बन्धु-भगिनियों के दान से ही चलता है।

अतः आपसे सादर अनुरोध है कि निम्नलिखित मदों में उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें।

बूँद बूँद से ही घड़ा भरता है। आपके द्वारा दिया गया सभी दान हमारे लिये महान है तथा हमारी योजनाओं में परम सहायक होगा।

(१) सत्-साहित्य प्रदर्शन तथा विक्रय विभाग भवन तथा उपकरण (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(२) सेवक निवास भवन तथा उपकरण (सात लाख) ७,००,०००/- रु.

(३) गोशाला निर्माण तथा गोबर गैस संयंत्र आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(४) मन्दिर के सामने मुख्य द्वार का निर्माण तथा द्वार से मन्दिर तक पथ निर्माण (तीन लाख) ३,००,०००/- रु.

(५) पुराने भवनों की मरम्मत तथा रंग-रोगन आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(६) मन्दिर का फूल-उद्यान, जल संसाधन व्यवस्था तथा इनका रख-रखाव एवं विद्युत खर्च (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(७) औषधालय में औषधि आदि का व्यय तथा फिजियोथेरेपि यंत्रों का रख-रखाव, विद्युत व्यय, कर्मचारियों का मानदेय आदि (पच्चीस लाख) २५,००,०००/- रु.

स्थायी कोष के लिये अपेक्षित कुल राशि (रू. एक करोड़ मात्र) १,००,००,०००/- रु.

नर-नारायण की सेवा में आपका सहयोगी,

(स्वामी सत्यरूपानन्द)
सचिव

चेक/ड्राफ्ट कृपया रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के नाम पर लिखें।

रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान में ८०जी आयकर अधिनियम के अन्तर्गत छूट मिलती है।

वर्ष ४० **मई २००२** **अंक ५**

नीति-शतकम्

उद्भासिताखिलखलस्य विशृङ्खलस्य
प्राग्जातविस्तृतनिजाधमकर्मवृत्तेः ।
दैवादवाप्तविभवस्य गुणद्विषोऽस्य
नीचस्य गोचरगतैः सुखमाप्यते कैः ॥५९॥

अन्वयः – उद्भासित-अखिल-खलस्य विशृङ्खलस्य प्राग्जात-विस्तृत-निज-अधम-कर्म-वृत्तेः दैवात् अवाप्त-विभवस्य गुणद्विषः अस्य नीचस्य गोचर-गतैः कैः सुखम् आप्यते?

भावार्थ – दुष्टों को प्रोत्साहन देनेवाले, स्वेच्छाचारी (उच्छृंखल), अपने पहले से किये हुए दुष्कृत्यों को और भी विस्तार से करने के इच्छुक, संयोगवश प्राप्त हुए धनवाले, गुणों से द्वेष रखनेवाले नीच व्यक्ति के समीप रहना भला किसके लिए सुखकर हो सकता है !

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण
लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात् ।
दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना
छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥६०॥

अन्वयः – दिनस्य पूर्वार्ध-परार्ध-भिन्ना छाया इव खल-सज्जनानां मैत्री आरम्भ-गुर्वी क्रमेण क्षयिणी, पुरा लघ्वी पश्चात् च वृद्धिमती ।

भावार्थ – दुष्ट व्यक्ति की मित्रता दिन के पूर्वार्ध की छाया के समान पहले तो बड़ी होती है, परन्तु क्रमशः छोटी होती जाती है और सज्जनों की मित्रता दिन के उत्तरार्ध की छाया के समान पहले तो छोटी होती है, पर क्रमशः दीर्घ होती जाती है।

– भर्तृहरि

श्रीरामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(भैरव-चौताल)

रामकृष्ण रामकृष्ण, जप ले मन दिव्य नाम,
चरणों में ले आश्रय, हो जा नित पूर्णकाम ।।

करुणामय निष्कारण, आश्रितजन के तारण,
नरकाया कर धारण, आये हैं मर्त्यधाम ।।

नट नागर युगईश्वर, लीला करते सुन्दर,
सुखदाता भवभय हर, देखो नयनाभिराम ।।

मुखमण्डल फुल्लकमल, चरितामृत पूत विमल,
विगत मोहव्याधि सकल, ध्यावत वह छवि ललाम ।।

– २ –

हे रामकृष्ण नयनाभिराम ।
साकार सगुण तुम ब्रह्मशक्ति,
सच्चित्स्वरूप आनन्दधाम ।।

तुम आये हो अवनी तल पर,
आलोकित पुलकित नारी-नर,
प्रियरूप तुम्हारा कर दर्शन,
होते निहाल सब पूर्ण काम ।।

तुम व्याप रहे हो जग-जीवन,
मन वागतीत चिर ज्योतिर्घन,
अनुप्राणित कर दो मम तन-मन,
हो ध्यान तुम्हारा दिवस-याम ।।

निज त्याग-तपस्या दिखलाकर,
ईश्वर-निर्भरता सिखलाकर,
जग में सद्धर्म प्रतिष्ठा कर,
फैलाया तुमने निज सुनाम ।।

मैं द्वार तुम्हारे आया हूँ,
उपहार नहीं कुछ लाया हूँ,
स्वीकार करो प्रभु इतना ही,
मेरे सविनय शत शत प्रणाम ।।

– *विदेह*

मनुष्य और उसकी महिमा

स्वामी विवेकानन्द

सब प्रकार के शरीरों में मानव-शरीर ही सर्वश्रेष्ठ है; मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ जीव है। मनुष्य सब प्रकार के प्राणियों से – यहाँ तक कि देवताओं आदि से भी श्रेष्ठ है। मनुष्य से श्रेष्ठतर कोई और नहीं। देवताओं को भी ज्ञानप्राप्ति के लिए मानव-देह धारण करनी पड़ती है। देवता भी नहीं, एकमात्र मनुष्य ही ज्ञान-लाभ का अधिकारी है। यहूदियों और मुसलमानों के मतानुसार ईश्वर ने देवदूत तथा अन्य सब कुछ बनाने के बाद मनुष्य की सृष्टि की। और मनुष्य के सृजन के बाद ईश्वर ने देवदूतों से मनुष्य को प्रणाम तथा अभिनन्दन कर आने के लिए कहा। इबलिस को छोड़कर बाकी सबने ऐसा किया। अतः ईश्वर ने इबलिस को शाप दे दिया। इससे वह शैतान बन गया। इस रूपक के पीछे यह महान् सत्य निहित है कि संसार में मनुष्य-जन्म ही सर्वश्रेष्ठ है।

आश्चर्य की बात यह है कि सभी धर्म एक स्वर से घोषणा करते है कि मनुष्य पहले निष्पाप और पवित्र था, पर आज उसकी अवनति हो गयी है, फिर इस भाव को वे चाहे रूपक की भाषा में या दर्शन की स्पष्ट भाषा में या कविता की सुन्दर भाषा में ही क्यों न व्यक्त करें, पर वे सभी इस एक तत्त्व की घोषणा करते हैं।

मनुष्य का वास्तविक स्वरूप – आत्मा – कार्य-कारण से परे होने के कारण, देश-काल से परे होने के कारण, निश्चित रूप से मुक्त स्वभाववाला है। वह कभी बद्ध न था, न बद्ध हो सकता था। यह प्रातिभासिक जीव, यह प्रतिबिम्ब, देश-काल-निमित्त के द्वारा सीमाबद्ध होने के कारण बद्ध है। या हमारे कुछ दार्शनिकों की भाषा मे, "ऐसा प्रतीत होता है, मानो वह बद्ध हो गया है, पर वास्तव में वह बद्ध नहीं है।"

समस्त शास्त्र तथा विज्ञान मनुष्य के रूप में प्रकट होनेवाली इस आत्मा की महिमा की कल्पना भी नहीं कर सकते। यह समस्त ईश्वरों में श्रेष्ठ है, एकमात्र वही ईश्वर है, जिसकी सत्ता सदैव थी, सदैव है और सदैव रहेगी।

आदमी भ्रमवश अपने से बाहर विभिन्न देवताओं की खोज में रहता है, पर जब उसके अज्ञान का चक्कर समाप्त होता है, तो वह पुनः लौटकर अपनी आत्मा पर आ टिकता है। जिस ईश्वर की खोज में वह दर दर भटकता रहा, वन-प्रान्तर तथा मन्दिर-मस्जिद में ढूँढ़ता रहा, जिसे वह स्वर्ग में बैठकर संसार पर शासन करनेवाला मानता रहा, वह कोई अन्य नहीं, उसकी अपनी ही आत्मा है। वह 'मैं' है, और 'मैं' वह। 'मैं' ही ब्रह्म हूँ; मेरे इस तुच्छ 'मैं' का कभी अस्तित्व ही नहीं था।

ईश्वर की उपासना करने को यदि मूर्ति जरूरी है, तो सबसे श्रेष्ठ मानव-प्रतिमा मौजूद ही है। यदि ईश्वरोपासना के लिये मन्दिर बनवाना चाहते हो, तो ठीक है, पर उससे भी उच्चतर तथा महान् मानवदेह रूपी मन्दिर तो पहले से ही मौजूद है।

जीवित ईश्वर तुम लोगों के भीतर रहते हैं, तो भी तुम मन्दिर, गिरजाघर आदि बनाते हो और हर तरह की काल्पनिक चीजों से विश्वास करते हो। मनुष्य देह में स्थित आत्मा ही एकमात्र उपास्य ईश्वर है। पशु भी भगवान के मन्दिर हैं. पर मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ मन्दिर है – ताजमहल जैसा। यदि मैं उसकी उपासना नहीं कर सका, तो अन्य किसी भी मन्दिर से कुछ भी उपकार नहीं होगा। जिस क्षण मैं हर मनुष्य देहरूपी मन्दिर में आसीन ईश्वर की उपलब्धि कर सकूँगा, जिस क्षण मैं प्रत्येक के सम्मुख भक्तिभाव से खड़ा हो सकूँगा और सचमुच ही उनमे ईश्वर देख सकूँगा, जिस क्षण मुझमें यह भाव आ जायेगा, उसी क्षण मैं सभी बन्धनों से मुक्त हो जाऊँगा।

आदर्श अवस्था वह है, जिसमें मनुष्य का अहंभाव सर्वथा नष्ट हो जाता है; जब उसके लिये ऐसा कुछ भी नहीं रह जाता, जिसे 'मैं' और 'मेरा' कह सके। इस अवस्था-प्राप्त व्यक्ति के हृदय में स्वयं ईश्वर निवास करते हैं।

पहले हमें ईश्वर बन लेने दो। तत्पश्चात् दूसरों को ईश्वर बनने में सहायता देंगे। बनो और बनाओ, यही हमारा मूल मंत्र रहे। ऐसा न कहो कि मनुष्य पापी है। उसे यह बताओ कि तू ब्रह्म है। यदि कोई शैतान हो, तो भी हमारा कर्तव्य यही है कि हम ब्रह्म का ही स्मरण करें, शैतान का नहीं।

जब तुम अपने आपको शरीर समझते हो, तब तुम विश्व से अलग हो; जब तुम अपने आपको जीव समझते हो, तब तुम अनन्त अग्नि के एक स्फुलिंग हो; जब तुम अपने आपको आत्मस्वरूप मानते हो, तभी तुम विश्व हो।

चालाकी से कोई महान् कार्य पूरा नहीं हो सकता। प्रेम, सत्य-निष्ठा एवं महान् बल की सहायता से सारे कार्य सम्पन्न होते हैं। **तत् कुरु पौरुषम्** – अतः पुरुषार्थ को प्रकट करो।

हम नियम नहीं चाहते; हम नियमों को तोड़ने की क्षमता चाहते हैं; हम उनके परे चले जाना चाहते हैं, यदि तुम नियमों से बँधे हो, तो मिट्टी के ढेले की भाँति निर्जीव हो। नियमातीत होने की यह धारणा ही सम्पूर्ण मानव इतिहास की नींव है।
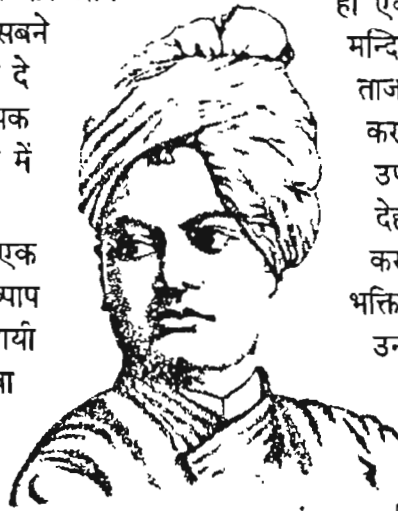
प्रत्येक व्यक्ति पहले से ही अनन्त है, केवल इन सब विभिन्न अवस्थाओं रूपी द्वारों या प्रतिबन्धों ने उसे बद्ध कर रखा है। इन प्रतिबन्धों को हटाने मात्र से ही बड़े वेग के साथ उसकी वह अनन्त शक्ति अभिव्यक्त होने लगती है।

योगी को छोड़ बाकी सभी लोग मानो गुलाम हैं – खाने-पीने के गुलाम, अपनी स्त्री के गुलाम, अपने लड़के-बच्चों के गुलाम, रुपये-पैसे के गुलाम, देशभक्ति के गुलाम, नाम-यश के गुलाम, जलवायु के गुलाम, इस संसार के हजारों विषयों के गुलाम, जो व्यक्ति इन बन्धनों में से किसी में भी नहीं फँसे, वही सच्चा मनुष्य है – सच्चा योगी है।

प्रत्येक व्यक्ति के लिये उसकी वर्तमान अवस्था में रहते हुए स्वयं की उन्नति करने के अवसर विद्यमान हैं। हम अपना नाश नहीं कर सकते, हम अपने भीतर की जीवनी-शक्ति को विभिन्न दिशाओं में परिचालित करने के लिए स्वतंत्र हैं।

लोगों को व्यावहारिक तथा शरीर से सबल होने की शिक्षा दी जानी चाहिए। लाखों भेड़ों द्वारा नहीं, वरन् ऐसे दर्जन भर सिंहों द्वारा ही पूरे जगत् पर विजय पाई जा सकती है। फिर किसी का व्यक्तिगत आदर्श चाहे जितना ही बड़ा क्यों न हो, लोगों को उसके अनुकरण की शिक्षा नहीं दी जानी चाहिए।

मनुष्य एक छोटे डिब्बे में कुण्डलित अनन्त स्प्रिंग जैसा है, जो स्वयं को खोलने का प्रयास कर रहा है। जो सामाजिक व्यवस्था हम देखते हैं, वह अभिव्यक्ति की यही चेष्टा मात्र है।

तुम तो ईश्वर की सन्तान हो, अमर आनन्द के भागीदार हो, पवित्र और पूर्ण आत्मा हो। तुम इस मर्त्यलोक में देवता हो। तुम भला पापी? मानव को पापी कहना ही पाप है, उसके स्वरूप पर घोर लांछना है। उठो! ऐ सिंहो! आओ और इस मिथ्या भ्रम को झटककर दूर फेंक दो कि तुम भेड़ हो।

शक्ति हम लोगों के भीतर पहले से ही अव्यक्त भाव से निहित थी और वह अवश्य थी। इसी प्रकार मनुष्य की आत्मा के भीतर अनन्त शक्ति भरी पड़ी है, भले ही मनुष्य को उसका ज्ञान हो या न हो। उसे केवल जानने की ही अपेक्षा है। क्रमश: वह अनन्त शक्तिमान दैत्य मानो जाग्रत होकर अपनी शक्ति का बोध कर रहा है और जैसे जैसे वह सचेतन होता जाता है, वैसे वैसे एक के बाद एक उसके बन्धन टूटते जाते हैं, शृंखलाएँ छिन्न-भिन्न होती जाती हैं और वह दिन अवश्य आयेगा, जब वह अपनी अनन्त शक्ति के पूर्ण ज्ञान के साथ अपने पैरों पर उठ खड़ा होगा। आओ, हम सभी उस महिमामयी परिणति को शीघ्र लाने में सहायता करें।

अंगद-चरित (२/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'अंगद-चरित' पर कुल १० प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके द्वितीय प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक हैं। – सं.)

निज उरमाल बसन मनि,
बालितनय पहिराइ ।
बिदा कीन्हि भगवान तब
बहु प्रकार समुझाइ ।।७/१८ (ख)

उपरोक्त दोहे में अंगद का परिचय 'बालितनय' के रूप में दिया गया। 'मानस' में अंगद के सन्दर्भ में जितनी भी पँक्तियाँ आई हैं, उन सबमें यह बात आपको स्पष्ट दिखेगी कि अंगद के लिए जिस शब्द का सर्वाधिक प्रयोग किया गया है, वह है **'बालितनय'**। यह बात अपने आप में कुछ विचित्र-सी प्रतीत होती है, क्योंकि परम्परा यह है कि जब हम किसी व्यक्ति का स्मरण किसी प्रसंग में करते हैं, तो यदि उसकी निन्दा या आलोचना करनी हुई तो उसका सम्बन्ध हम ऐसे व्यक्ति से जोड़ते हैं, जो बुरा हो और जब किसी व्यक्ति की प्रशंसा करना चाहते हैं, तो उसका सम्बन्ध किसी श्रेष्ठ व्यक्ति से जोड़ते हैं। 'मानस' में भी इसी पद्धति का प्रयोग किया गया है। सतीजी के प्रसंग में भी और कैकेयी के प्रसंग में भी आपको इसी शैली का प्रयोग मिलेगा। जब सतीजी की प्रशंसा करनी होती तो गोस्वामी जी याद दिलाते हैं कि भगवान शंकर की प्रिया हैं, शिव जी की पत्नी हैं, परन्तु जब उनकी निन्दा करनी होती है, उनके किसी दोष के कारण कवि रुष्ट होता है, तब उनका स्मरण शिव की पत्नी के रूप में नहीं, बल्कि दक्ष की पुत्री के रूप में किया जाता है। आप कई प्रसंगों में, कई जगह यही बात पायेंगे। जब वे कथा सुनने के लिए चलीं, तो गोस्वामीजी ने कहा – भवानी। 'भव' शंकर जी का नाम है –

संग सती जगजननि भवानी ।
पूजे रिषि अखिलेस्वर जानी ।। १/४८/२

पर वहाँ जाकर भी अभिमान के कारण कथा नहीं सुन पायीं, तो गोस्वामीजी ने उपेक्षा भरे स्वर में कहा – ये भवानी नहीं हैं। – तो कौन हैं? बोले – दक्षकुमारी हैं –

मुनि सन बिदा मागि त्रिपुरारी ।
चले भवन सँग दच्छकुमारी ।। १/४८/६

आगे भी शंकरजी द्वारा बारम्बार समझाने की चेष्टा के बावजूद जब वे नहीं समझ पातीं, उनकी बात को अस्वीकार करके भगवान की परीक्षा लेने के लिए चल पड़ती हैं। तब शंकरजी के मन में यह नहीं आता कि मेरी पत्नी का कल्याण नहीं होगा, बल्कि आता है – 'दक्षपुत्री' का भला नहीं होगा –

इहाँ संभु अस मन अनुमाना ।
दच्छसुता कहुँ नहिं कल्याना ।। १/५२/५

श्रीमद्भागवत में भी इसी ओर संकेत किया गया है और 'मानस' में भी। जिस समय सतीजी अत्यन्त दुखी हैं, उस समय उन्हें दक्ष के साथ जोड़ा गया है –

एहिं बिधि दुखित प्रजेसकुमारी ।
अकथनीय दारुन दुखु भारी ।। १/६०/१

दक्षकन्या दु:ख में डूबी हुई हैं। बड़ा स्वाभाविक प्रयोग है। अभिप्राय यह है कि शिव जी की पत्नी दु:ख में डूबें, यह तो सम्भव ही नहीं है। वस्तुत: वे दक्षपुत्री के रूप में ही दु:ख में डूबी हुई हैं। यहाँ पर गोस्वामीजी ने **'प्रजेसकुमारी'** शब्द का प्रयोग किया। दक्ष को 'प्रजेस' कहा। प्रजेस अर्थात् प्रजा का स्वामी। तात्पर्य यह कि सारी प्रजा का दु:ख इतना अधिक है कि वह निरन्तर दु:ख का ही अनुभव करता रहता है। इसलिए जो प्रजेश है, उसकी कन्या भी उसी मन:स्थिति में है। सती दक्ष के यज्ञ में जाना चाहती हैं, शंकर जी रोकते हैं, पर सती नहीं मानतीं। वहाँ पर गोस्वामी जी यही दुहराते हैं –

कहि देखा हर जतन बहु
रहइ न दच्छकुमारि ।। १/६२

शंकरजी ने बड़ा समझाया, पर दक्षकुमारी मानने को राजी नहीं हुईं। इस प्रकार जब उन्हें दक्ष से जोड़कर दक्षपुत्री के रूप में उनका उल्लेख होता है, तब उनकी निन्दा ही लक्ष्य है। इसी तरह कैकेयी के प्रसंग से आप परिचित हैं। जब उनकी प्रशंसा करनी होती है, तब उनके लिए सम्बोधन है – **'भरतमातु'** (२/१४) – 'भरत की माता' और जब निन्दा करनी होती तो कहते – **'कैकयनंदिनि'** (२/९१) – 'कैकय राजा की पुत्री'। आप जानते हैं कि रावण विश्रवा मुनि का पुत्र था, पर 'मानस' में रावण का परिचय उनके पिता के नाम से कभी नहीं दिया गया। गोस्वामीजी को लगता है कि एक महामुनि के पुत्र के रूप में रावण का उल्लेख तो स्वयं महामुनि का अनादर होगा। यह शैली आपको 'मानस' में सर्वत्र दिखाई देगी।

ऐसी स्थिति में **बालितनय** के रूप में अंगद का परिचय दिया जाना, एक प्रश्न उपस्थित करता है। **बालितनय** कहना अंगद की प्रशंसा है या निन्दा? इसका उत्तर जानने के लिए

हमें बालि के चरित्र पर विचार करना होगा। 'मानस' का यह पात्र निन्दनीय है या वन्दनीय? वह अच्छा पात्र है या बुरा? सामान्यत: हमारे मन में यही धारणा आती है कि बालि बुरा पात्र है और इसकी पुष्टि इस बात से हो जाती है कि भगवान ने बालि पर बाण से प्रहार किया। केवल प्रहार ही नहीं, बल्कि कठोर-से-कठोर शब्दों में उसकी भर्त्सना भी की, उस पर अनेक आरोप लगाये। उन आरोपों से तो यही लगता है कि बालि निन्दनीय पात्र है। लेकिन अंगद का परिचय जब भी दिया गया, बालितनय के रूप में ही दिया गया। पर एक भी प्रसंग ऐसा नहीं है, जहाँ उन्हें **बालितनय** कहकर उन पर कटाक्ष किया गया हो या उसके निन्दनीय पक्ष की ओर संकेत किया गया हो। बालितनय कहकर सदा उनकी प्रशंसा की गयी और यह शब्द प्रभु को इतना प्रिय था कि जब वे अंगद को कुछ कहना चाहते थे, तो वे उन्हें अंगद की जगह बड़े स्नेह से बालितनय ही कहते थे। राजदूत के रूप में लंका भेजते समय भगवान ने अंगद को पास बुलाकर कहा – हे बालि के पुत्र, मेरे उद्देश्य की पूर्ति के लिए तुम लंका जाओ –

बालितनय बुधि बल गुन धामा।
लंका जाहु तात मम कामा।। ६/१७/६

इस शब्द से तो ऐसा लगता है कि भगवान राम उन्हें बहुत सम्मान देते हैं। ऐसा बारम्बार होता है। अंगद ने लंका में जाकर रावण की सभा से उसके चार मुकुट छीनकर भगवान के पास भेजे। उन मुकुटों को देखकर बन्दरों को ऐसा लगा कि रावण ने लंका से कोई भीषण अस्त्र चलाकर हम लोगों को नष्ट करने के लिए प्रहार किया है, क्योंकि वे मुकुट सूर्य के समान बड़े देदीप्यमान थे। तब भगवान राम ने बन्दरों का डर दूर करने के लिए कहा –

ए किरीट दसकंधर केरे।
आवत बालितनय के प्रेरे।। ६/३२/९

ये बालि के पुत्र के द्वारा भेजे गये हैं। यहाँ पर अंगद की महान् सफलता की प्रशंसा में भगवान उन्हें बालितनय कहते हैं। इसके बाद जब अंगद लंका से लौटकर आते हैं, तो भगवान उन्हें बड़े प्रेम से अपने पास बिठा लेते हैं और पूछते हैं, पर वहाँ भी वे सम्बोधन अंगद कहकर नहीं करते। भगवान कहते हैं – हे बालि के पुत्र, मेरे मन में बड़ा कौतुक है, मैं तुमसे पूछता हूँ, उसका सही सही उत्तर दो –

बालितनय कौतुक अति मोही।
तात सत्य कहु पूछउँ तोही।। ६/३८/५

प्रारम्भ में जो दोहा उद्धृत किया गया, उसमें भगवान श्री राघवेन्द्र बड़े स्नेह से, हृदय से लगाकर अंगद को अयोध्या से विदा करते हैं। अंगद के गले में माला डालते हैं। उस समय भी उसी नाम का स्मरण दिलाया गया था।

अब बालि यदि निन्दनीय पात्र है, तो फिर इन प्रसंगों में उनका बालिपुत्र के रूप में परिचय नहीं दिया जाना चाहिए था। परन्तु अंगद की प्रशंसा के हर प्रसंग में जब उनका स्मरण बालि के पुत्र के रूप में किया गया, तो इसमें आध्यात्मिक साधना का बड़ा ही सार्थक संकेत है।

ऐसा लगता है कि बालि और सुग्रीव में से प्रभु ने सुग्रीव को अधिक महत्व दिया। भगवान राम ने उन्हें मित्र के रूप में स्वीकार किया और बालि के ऊपर बाण का प्रहार किया। पर यदि आध्यात्मिक सत्य की दृष्टि से विचार करके देखें, तो दोनों के चरित्र में आपको एक अनोखा अन्तर दिखाई देगा। उस अनोखे अन्तर के लिए मैं एक शब्द का प्रयोग करना चाहूँगा कि एक मार्ग तो वह है, जिसमें सीढ़ियाँ होती हैं – साधना के क्रमिक विकास का मार्ग। जैसे आप ऊपर की ओर चढ़ना चाहते हैं, तो पहले सीढ़ियाँ बनाई जाती हैं और उन सीढ़ियों के माध्यम से एक के बाद दूसरी सीढ़ी पर पैर रखते हुए व्यक्ति ऊपर जाता है। इसी प्रकार से साधना में धीरे धीरे आगे बढ़ने के लिए सोपान बनाये जाते हैं, किन्तु यह सीढ़ी वाला मार्ग कोई बहुत सरल मार्ग नहीं होता। इसमें थोड़ी-सी असावधानी से नीचे गिरने का डर बना रहता है। जो इन सीढ़ियों पर चढ़ता है, वह बड़ी सावधानी से पैर रखता है और अन्त में इन सीढ़ियों के माध्यम से वह ऊपर पहुँच जाता है, लेकिन कुछ पात्रों के जीवन में सीढ़ी का मार्ग नहीं दिखाई देता। कुछ पात्रों के जीवन में हमें ऐसा दिखाई देता है, जिसे हम छलाँग का मार्ग कह सकते हैं! छलाँग का मार्ग कहने का अभिप्राय यह है कि कुछ लोग ऐसे विलक्षण होते हैं, जो सीढ़ी की क्रमिक साधना से न चलकर, ऐसी छलाँग लगाते हैं कि एक छलाँग में ही वे ऊपर दिखाई देने लगते हैं। यदि हम बालि और सुग्रीव के चरित्र की तुलना करें, तो हम यही कहेंगे कि सुग्रीव के चरित्र में तो क्रमिक विकास है, वे सीढ़ी के मार्ग से ऊपर चढ़ते हैं, पर बालि के चरित्र में विशेषता यह है कि प्रारम्भ में तो वे एकदम नीचे दिखाई देते हैं, पर जब छलाँग लगाते हैं, तो एक बार में ही वे इतने ऊपर पहुँच जाते हैं, जहाँ तक पहुँचने में सुग्रीव को काफी समय लग जाता है। परन्तु ध्यान रहे, यह छलाँगवाला मार्ग कोई ऐसा मार्ग नहीं है, जिसके लिए किसी को उत्साहित करना उचित हो। वस्तुत: मार्ग का जब वर्णन किया जायेगा, तो सोपानवाले मार्ग का ही वर्णन होगा। परन्तु आप इतिहास को उठाकर पढ़िये, पुराणों को पढ़िये, 'मानस' के पात्रों को देखिये, तो पायेंगे कि कुछ ऐसे भी पात्र अवश्य हैं, जिनके जीवन में छलाँग है।

इसका सांकेतिक परिचय सेतु और छलाँग के सन्दर्भ में हनुमान जी और बन्दरों के चरित्र में है। लंका के समुद्र को पार करने के लिए भगवान जब बन्दरों की सेना लेकर आते हैं, तब वहाँ पर सेतु-निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। इसके पूर्व कहा गया है कि ये ही बन्दर जब हनुमान जी

के साथ आये, तो समुद्र-तट पर रुक गये थे, क्योंकि तब सेतु नहीं बना था। एक हनुमान जी ही ऐसे हैं, जो समुद्र पार करते हैं। पर हनुमान जी जब समुद्र पार करते हैं, तो छलाँग के मार्ग से पार करते हैं। उनमें ऐसी क्षमता है कि एक ही छलाँग में वे समुद्र के उस पार जा सकते हैं। लेकिन इतना होते हुए भी जब भगवान राम बन्दरों को लेकर आते हैं और समुद्र के संकेत पर निर्णय किया जाता है कि समुद्र पर सेतु बनाया जाय, तो उसका अर्थ क्या है? उस प्रसंग में भी छलाँग लगानेवाले पात्र थे। क्योंकि उस दोहे में आप पढ़ते हैं –

सेतुबंध भइ भीर अति
कपि नभ पंथ उड़ाहिं।
अपर जलचरन्हि ऊपर
चढ़ि चढ़ि पारहि जाहिं ।। ६/४

– सेतुबन्ध पर इतनी भीड़ हुई कि कुछ बन्दर आकाश-मार्ग से और कुछ जलचरों की पीठ पर चढ़कर पार जाने लगे।

उस समय भी कुछ बन्दर ऐसे थे, जिन्होंने छलाँग लगाकर आकाश-मार्ग से ही समुद्र को पार किया, पर जीवन का – व्यवहार तथा परमार्थ का सत्य यही है कि ऐसी छलाँग लगाने की क्षमता कुछ गिने-चुने लोगों में ही होती है। हनुमानजी की महिमा यह है कि यद्यपि उन्होंने एक ही छलाँग में देहाभिमान के समुद्र को पार कर लिया; भक्तिरूपा, शान्तिरूपा सीताजी को तथा उनका आशीर्वाद पा लिया, मोह-वाटिका को ध्वस्त कर दिया, दुर्गुण-दुर्विचारों को मिटा दिया और इन महान् कार्यों को पूरा करके एक ही छलाँग में लौट भी आये, परन्तु हनुमानजी की विशेषता यह है कि वे बन्दरों को यह कहकर लज्जित नहीं करते – अरे, तुम लोग कैसे हो, तुम भी छलाँग लगाओ ! ऐसा बिल्कुल नहीं कहा।

हनुमानजी लंका से लौटकर आते हैं और प्रभु के चरणों में प्रणाम करके कहते हैं – प्रभो, आप तत्काल चलिए। इसके पीछे हनुमानजी का अभिप्राय यह था कि साधना के क्रमिक विकास का सत्य इसी पद्धति से प्रगट होगा। हनुमानजी प्रभु के सामने जब सीताजी के दु:खों का वर्णन करने लगे तो उन्होंने बड़ी सावधानी के साथ कहा – सीताजी इतने दु:ख में हैं कि उनका एक एक क्षण कल्प की तरह बीत रहा है –

सीता कै अति बिपति बिसाला।
बिनहिं कहें भलि दीनदयाला ।। ५/३१/९
निमिष निमिष करुनानिधि
जाहिं कलप सम बीति ।। ५/३१

परन्तु वे सावधान क्यों हैं? इसलिए कि कहीं इसे सुनकर भगवान राम अपने ईश्वरत्व की, अपने स्वरूप की स्मृति न कर बैठें? भगवान के संकल्प में अद्भुत शक्ति तो है ही, रावण का नाश करने में उन्हें कितना समय लगेगा? धनुष-वाण की दृष्टि से भी यदि विचार करें, तो उनके पास ऐसे चमत्कारी वाण हैं कि जब उन्होंने एक वाण जयन्त के पीछे लगा दिया, तो तीनों लोकों में कहीं भी उसकी रक्षा नहीं हो पायी। भगवान यदि चाहते, तो वहीं किष्किन्धापुरी में बैठे हुए ही लंकाधिपति रावण का संहार कर सकते थे। वे चाहते तो वाण के द्वारा ही जनकनन्दिनी सीता जी को वापस ला सकते थे। यह क्षमता प्रभु में है। भरत जी के वाण की क्षमता आप पढ़ते ही हैं। वे हनुमान जी से अनुरोध करते हैं कि आप वाण पर बैठ जाइये, मैं आपको प्रभु के पास पहुँचा दूँ।

हनुमान जी यह सब जानते हैं, इसीलिए सावधान हैं। वे कहते हैं – प्रभु चलिए और शीघ्र चलिए। इसका अभिप्राय यह है कि यदि आप ईश्वरीय पद्धति से रावण का विनाश कर देंगे, तो आपके अवतार का उद्देश्य पूरा नहीं होगा। तात्पर्य यह कि वस्तुत: आप जब ईश्वर से मनुष्य बने हैं, तो आप मानव-जीवन मे साधना के जिस सत्य के अवतरण की जरूरत है, आप उसी को प्रगट कीजिए। हनुमानजी के शब्दों पर आप ध्यान दीजिए, वे कहते हैं – जल्दी चलिए –

वेगि चलिय प्रभु आनिय
भुज बल खल दल जीति ।।५/३१

जल्दी चलिए और मनुष्य की तरह पैदल चलिए। रावण को जीतकर सीताजी को वापस लाइये। एक सूत्र देते हैं, कैसे जीतिए? कहते हैं – अपने बाहुबल से दुष्टों को जीतकर ले आइए। हनुमानजी का अभिप्राय मानो यह है कि आपके साथ और भी अगणित लोग चल रहे हैं।

भगवान के अवतार का उद्देश्य क्या है? अकेले व्यक्ति की साधना का सत्य तो ऐसा हो सकता है कि वह इतनी ऊँची छलाँग लगा दे कि तत्काल परमार्थ को प्राप्त कर ले, पर यदि हजारों लोगों को साथ लेकर चलना हो और उनमें एक व्यक्ति ऐसा हो, जो क्षण भर में न जाने कहाँ-से-कहाँ पहुँच जाय, तो इसमें उसकी महिमा तो दिखाई देगी, पर बेचारे अन्य चलनेवाले लोग उस गति से साथ चलने में असमर्थ हो जायेंगे। इसलिए महापुरुष जब चलते हैं, तो अपनी चाल से नहीं चलते ! जिन लोगों को लेकर चलना है, उनकी जितनी क्षमता है, उसके अनुकूल चलते हैं। जीवन का वह पक्ष भी प्रगट हो जाता है कि हनुमानजी के समान ऐसे भी पात्र हो सकते हैं, जिन्हें धीरे धीरे चलने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु स्वयं भगवान राम का जो मार्ग है, वह पैदल मार्ग है और सारे बन्दरों को साथ लेकर चलने का मार्ग है।

इसके बाद समुद्र किनारे भी तो साधना का यही तत्त्व आता है। समुद्र को कैसे पार किया जाय? उसे पार करने का एक उपाय विभीषण बताते हैं। वे कहते हैं – समुद्र से प्रार्थना कीजिए। लक्ष्मण जी कहते हैं – सुखा दीजिए। पर अन्त में जब समुद्र सामने आता है, तो वह भगवान से अनुरोध करता

है – प्रभो, यदि आप सुखाकर चले जायेंगे, तो उससे आपका चमत्कार तो प्रगट हो जायेगा, पर आपके अवतार का उद्देश्य केवल महिमा प्रगट करना तो है नहीं, आपका उद्देश्य हर व्यक्ति को ऐसा प्रशस्त पथ देना है, साधना की ऐसी क्रमिक पद्धति देनी है, जिससे हर व्यक्ति उस सत्य तक पहुँच सके, जिस तक कोई बिरले ही महापुरुष छलाँग लगाकर पहुँच पाते हैं। अत: अनगिनत बन्दरों को साथ लेकर चलने का मार्ग तो सेतु का ही मार्ग हो सकता है। तात्पर्य यह कि यदि कोई नदी हो और घोषणा कर दी जाय कि अमुक योगी नदी को आकाश -मार्ग से पार करेंगे, तो लाखों आदमी उसे देखने को उमड़ पड़ेंगे और बड़ी श्रद्धा से उनकी पूजा-वन्दना करने लगेंगे।

लेकिन इससे हमारी समस्या का समाधान तो नहीं हुआ। दूसरे दिन जब हमें नदी पार करनी होगी, तो हमारे सामने फिर वही समस्या आएगी। योगियों का दर्शन तो हो गया, पर हम स्वयं नदी कैसे पार करें? इसलिए सरल पद्धति तो यही है कि जिनमें क्षमता है, वे यदि सेतु का निर्माण कर दें, तो फिर छोटे-से-छोटा व्यक्ति और इतना ही नहीं, पशुओं को भी पार जाने की सुविधा हो जाती है। गोस्वामी जी कहते हैं कि बेचारी चींटी तो कभी नदी को पार कर पाने की कल्पना ही नहीं कर सकती, पर पुल बन जाने पर इतनी सुविधा हो गयी कि चींटी भी बड़ी सरलता से इस पार से उस पार चली गई –

अति अपार जो सरित बर
जौं नृप सेतु कराहिं।
चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु
बिनु श्रम पारहि जाहिं।। १/१३

अत: साधना का ऐसा रूप होना चाहिए कि जिसमें बड़े-से-बड़े व्यक्ति से लेकर छोटे-से-छोटे व्यक्ति भी उसी सत्य का साक्षात्कार कर सकें। यही सेतु का वास्तविक तात्पर्य है।

साधना की दृष्टि से सेतुबन्ध का बड़ा गहरा तात्त्विक अर्थ है। इसमें भी आप साधना के क्रमिक विकास का क्रम पायेंगे। सेतु पत्थरों से बनाया गया और जलचरों से भी। इसे सांकेतिक रूप में कहें तो पत्थर सद्गुण है और जलचर दुर्गुण। समुद्र पर सेतु-निर्माण का अर्थ है – मनुष्य जीवन में सद्गुणों का सदुपयोग कैसे करें? पर सेतुबन्ध में इससे भी अधिक कठिन भूमिका प्रस्तुत की गयी कि क्या दुर्गुणों का भी सदुपयोग हो सकता है? उसमें सांकेतिक क्रम यह है कि पहले पत्थर का पुल बनाया। यह सद्गुणों के द्वारा बनाया जानेवाला पुल है। यहाँ सद्गुणों के साथ जो समस्या है, वह सेतुबन्ध के सामने भी आई। पत्थर में दृढ़ता तो खूब है, पर वे उतने ही अधिक भारी भी हैं। जल में डालते ही डूब जाते हैं और केवल स्वयं ही नहीं बल्कि अपने साथ बँधे न डूबनेवाले को भी डुबा देते हैं। पत्थर बाँधकर पानी में कूदनेवाला तो अवश्य डूबेगा –

बूड़हिं आनहि बोरहिं जेई।
भये उपल बोहित सम तेई।। ६/३/८

सद्गुण के साथ दो समस्याएँ थीं, दो कठिनाइयाँ थीं – एक तो ये हल्के कैसे हों और दूसरी की ये जुड़ें कैसे? नल-नील ने छू दिया तो हल्के हो गये, पर जब उन्हें जल में डाला गया तो वे तरंगों के कारण एक-दूसरे से अलग हो गये। अब जब जोड़ने की बात आयी तो हनुमानजी आगे आये। वे बोले – एक पत्थर पर **रा** लिखो और दूसरे पर **म**, बस पत्थर जुड़ जायेंगे। ऐसा ही किया गया, पत्थर जुड़ गये और इस प्रकार निर्मित पुल से होकर बन्दरों ने समुद्र पार किया।

कभी कभी तो लोग बड़ी विचित्र पद्धति से रामकथा पढ़ते हैं। सेतुबन्ध का प्रसंग चल रहा था। एक श्रोता ने लिखकर मेरे पास भेजा – 'विनय-पत्रिका' में संकेत मिलता है कि –

सुनियत सेतु पयोधि पषाननि
करि कपि कटक तरो।। २३६/४

उन्होंने लिखा था कि गोस्वामीजी की इस युक्ति को पढ़कर हमें बड़ी चोट लगी, क्योंकि जब पत्थरों पर बन्दरों ने राम-नाम लिखा होगा और पुल पर चढ़ते समय उस रामनाम पर पैर रखकर गये, यह तो रामनाम का बड़ा अपमान है। यह उसी प्रकार का प्रश्न है, जैसे एक श्रोता को चिन्ता हो गयी कि हनुमान जी ने सीता जी को अँगूठी दी, तो धोकर दी या बिना धोये। क्योंकि वे मुद्रिका को मुँह में लेकर गये थे – **प्रभु मुद्रिका मेलि मुख माहीं**। अशोक वाटिका में तो मुद्रिका को धोने लायक कोई तालाब आदि दिखाई नहीं दे रहा है। तो क्या मुँह से निकालकर जूठी मुद्रिका ही दे दी? इस तरह के स्थूल अर्थ में उलझ जाने से तो कहने का उद्देश्य ही समाप्त हो गया। इस दृष्टि से मान-अपमान का विचार करना हो, तो अपने धर्मग्रन्थों का ध्यान से पाठ कीजिए। बहुत-से लोग 'रामरक्षा-स्तोत्र' का पाठ करते हैं। उसमें हर अंग में भगवान का ध्यान किया जाता है। प्रारम्भ सिर से किया जाता है – मेरे सिर की राघवेन्द्र रक्षा करें, कपाल की दशरथपुत्र, नेत्रों की कौशल्यानन्दन, कानों की विश्वामित्र के प्रिय रक्षा करें –

शिरो मे राघवः पातु भालं दशरथात्मजः।।
कौसल्येयो दृशौ पातु विश्वामित्रप्रियः श्रुती।
घ्राणं पातु मखत्राता मुखं सौमित्रिवत्सलः।।४-५।।

इसी प्रकार हर अंग में उनका ध्यान किया जाता है, पर इसकी समाप्ति कहाँ जाकर होती है? अन्त में कहते हैं – विभीषण को राजतिलक करनेवाले मेरे पाँवों की रक्षा करें और इस प्रकार श्रीराम मेरे पूरे शरीर की रक्षा करें –

पादौ विभीषणश्रीदः पातु रामोऽखिलं वपुः।।९।।

तो इससे क्या भगवान का बड़ा अनादर होता है? क्या यही उनका बड़ा समादर है कि वे सिर में तो हैं, पर पाँव में

नहीं? यदि वे सर्वव्यापी हैं तो सिर से पैर तक सर्वत्र विद्यमान हैं। इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर रोम रोम में, कण कण में परिव्याप्त हैं। हम केवल उसकी अनुभूति से वंचित हैं। प्रारम्भ में हमारे संस्कार चूँकि ऐसे बने हुए हैं कि हम किसी विशेष या ऊँचे स्थान पर ही उनकी कल्पना करके सन्तोष करते हैं, परन्तु यदि विचार करके देखें तो वस्तुत: नख से शिख तक सर्वत्र एक ईश्वर तत्त्व ही विद्यमान है। वही चरणों में है, वही नेत्रों में है, और वही भुजाओं में है। वह कहाँ नहीं है?

इसी प्रकार जब हनुमानजी मुद्रिका को मुँह में डाल लेते हैं, तो गोस्वामीजी इसके माध्यम से बहुत बड़ी बात कहना चाहते हैं और वह यह है कि यद्यपि जो वस्तु मुँह में चली जाय वह जूठी हो जाती है, परन्तु एक राम-नाम ऐसा है, जो कभी जूठा नहीं होता, अपितु वह मुँह को भी पवित्र कर देता है। इसका अर्थ यह है कि जब कोई व्यक्ति मुँह से निकालकर कोई वस्तु आपको दे तो आप उसको अस्वीकार कर देंगे, पर जब भगवान की कथा, भगवान का नाम मुख से निकलता है, तो क्या आप कान बन्द कर लेते हैं – अरे, यह तो वक्ता का जूठा है, भला हम इसे कैसे लें! ऐसा आप नहीं कहते, बल्कि उसे सुन करके तो आप और भी आनन्द लेते हैं। कथा के द्वारा रस की वृद्धि होती है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रभु का नाम अशुद्ध को भी शुद्ध करनेवाला है। यही है नाम की महिमा। इसलिए समुद्र पर सेतुबन्ध के लिए पत्थरों पर राम-नाम लिखने को इस अर्थ में न लें कि उन पर पैर रख दिया।

जैसा कि बताया गया सद्‌गुणों के सन्दर्भ में हमारे जीवन में दो समस्याएँ आती हैं, जिनमें एक तो है अभिमान की। बालि के सन्दर्भ में भी इसी की चर्चा चल रही थी और दूसरी समस्या आती है, न जुड़ पाने की। सद्‌गुण है तो अभिमान अवश्य दिखायी देता है और फिर एक सद्‌गुण आता है, तो दूसरा सद्‌गुण दूर भागता है। ऐसी स्थिति में उपाय क्या है? नल और नील को उपाय प्राप्त था कि उनके स्पर्श से पत्थर हल्के हो जायेंगे। सद्‌गुणों से अभिमान मिटाना हो तो सन्तों की कृपा प्राप्त कीजिए, सन्तों का अशीर्वाद प्राप्त कीजिए। सत्संग में जायेंगे, अभिमान की निन्दा सुनेंगे तो सद्‌गुणों में जो 'मैं' जुड़ा हुआ है, वह 'मैं' दूर होगा।

परन्तु हल्के होने के बाद भी एक गुण दूसरे गुण के समीप कैसे आयेंगे, आपस में जुड़ेंगे कैसे? इसके लिए कहा गया कि सन्तों कृपा के साथ साथ, जब तक भगवन्नाम का आश्रय न लिया जाय, तब तक ये जुड़ेंगे नहीं। भगवन्नाम ही सद्‌गुणों को जोड़ता है। सत्संग के द्वारा गुणों का अभिमान मिटाया जा सकता है और भगवन्नाम के द्वारा गुणों को जोड़ा जा सकता है। इसका सांकेतिक अभिप्राय यह है कि यदि हम देहाभिमान के समुद्र को पार करना चाहते हैं, तो सत्संग के साथ-ही-साथ भगवन्नाम का जप करें। इन दोनों के माध्यम से साधना का एक ऐसा सेतु बनेगा, जिसके द्वारा हम देहाभिमान को पार करके भक्तिरूपा सीताजी का साक्षात्कार कर सकते हैं।

दूसरी ओर जलचरों के साथ समस्या यह है कि ये मनुष्य को खा जानेवाले हैं। जीवन के दुर्गुण-विचार ही ये जलचर हैं। लक्ष्मण जी ने कहा था, "प्रभो, आप समुद्र को सुखा दीजिए। यदि समुद्र सुख जाता तो उसके सारे जलचर भी मर जाते। पर समुद्र ने भगवान से कहा – प्रभो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि लक्ष्मण जी जैसे महापुरुष दुर्गुणों को क्षण भर में जलाकर नष्ट कर सकते हैं, परन्तु आप तो सब पर कृपा करने हेतु आये हुए हैं; तो क्या इन दुर्गुणों का भी सदुपयोग नहीं करेंगे? और सचमुच भगवान इन दुर्गुणों का भी कितना सार्थक उपयोग करते हैं। सूत्र यह है कि सद्‌गुणों को जोड़िए।

अन्त में जब भगवान उस सेतुबन्ध पर खड़े हुए, तो समुद्र के सारे जलचर उतराकर उनका सौन्दर्य देखने लगे। इसका सांकेतिक अभिप्राय यह है कि सद्‌गुणों को जोड़िये और दुर्गुणों को ईश्वर की ओर मोड़िये। हमारे जीवन में राग हैं। ये राग मानो जलचर है। इन्हें प्रभु की ओर मोड़ देना चाहिए। एक उपाय तो यह भी है कि राग को मिटा दिया जाय। यह पद्धति भी ठीक है कि जो लोग राग को मिटा सकते हैं, मिटा दें; पर जो राग को मिटाने का मार्ग न स्वीकार कर सकें, वे राग को मिटाने के स्थान पर इस राग को ईश्वर की ओर मोड़ दें। इसमें भी बड़ा सुन्दर सांकेतिक क्रम है। यह जो पत्थरों का पुल है, इसे बन्दरों ने बनाया। इसका अभिप्राय यह है कि हम लोगों को तो सद्‌गुणों को जोड़कर ही पुल बनाना है; दुर्गुणों को मोड़ना तो हम-आपके नहीं, बल्कि भगवान के ही वश की बात है। जब हम पहले अपने सद्‌गुणों का सदुपयोग कर लें और तब भगवान से कहें – प्रभो, दुर्गुणों को अपने सौन्दर्य के द्वारा अपनी ओर आकृष्ट कर लीजिए, क्योंकि यह जीव के प्रयत्न या पुरुषार्थ से नहीं, आपकी कृपा से ही सम्भव है।

❖ (क्रमश:) ❖

निःस्वार्थता की शक्ति

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, जगदलपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

हमें ऐसा लगता है कि स्वार्थपरता ही हमारी क्रियाओं को गति देती है; निःस्वार्थपरता में ऐसा कोई तत्त्व नहीं दिखाई देता जो हमें गतिशील बनाए। पर वास्तव में बात उल्टी है। यह सही है कि सामान्यतः मनुष्य स्वार्थ से ही परिचालित होकर कर्म करता है, तथापि यह भी सही है कि संसार में जो महत् कार्य महान् पुरुषों द्वारा हुए हैं, उन सबके पीछे निःस्वार्थता की ही शक्ति रही है। तभी तो स्वामी विवेकानन्द कहते हैं – ''निःस्वार्थता अधिक लाभदायक होती है, किन्तु लोगों में उसका अभ्यास करने का धैर्य नहीं है।'' उनकी दृष्टि में हम निःस्वार्थ होकर दूसरों की भलाई का जो प्रयत्न करते हैं, वह वास्तव में अपने आपको भूल जाने का ही प्रयास है। यह अपने आपको भूल जाना एक ऐसा बड़ा सबक है, जिसे हमें अपने जीवन में सीखना है। मनुष्य मूर्खतापूर्वक यह सोचता है कि स्वार्थ सिद्धि के द्वारा वह अपने को सुखी बना सकता है, पर वर्षों के पश्चात् अन्त में वह कहीं समझ पाता है कि सच्चा सुख स्वार्थ के नाश में है और उसे अपने आपके अतिरिक्त अन्य कोई भी सुखी नहीं बना सकता।

स्वामीजी तो स्वार्थ को ही अनैतिकता समझते हैं और स्वार्थहीनता को नैतिकता। उनके मतानुसार मनुष्य का पूरा जीवन देने के लिए ही है। वह भले ही संग्रह करके रखना चाहे, पर प्रकृति उसे देने के लिए विवश कर देती है; इसलिए वे कहते हैं कि जब जीवन का सत्य यही है, तब तुम अपनी खुशी से क्यों नहीं दे देते? तुम मुट्ठी बाँधे हाथ से बटोरना चाहते हो, पर प्रकृति तुम्हारी गर्दन दबाती है और तुम्हारे हाथ खुल जाते हैं। तुम्हारी इच्छा हो या न हो, तुम्हें देना ही पड़ता है। जैसे ही तुम कहते हो - 'मैं नहीं दूँगा' एक घूँसा पड़ता है और तुम्हें चोट लगती है। ऐसा कोई नहीं है, जिसे अन्त में सब कुछ त्यागना न पड़े।

स्वामी विवेकानन्द निःस्वार्थता को ही धर्म की कसौटी मानते हैं। उनकी दृष्टि में जो जितना अधिक निःस्वार्थी है, वह उतना ही धार्मिक, आध्यात्मिक और शिव के समीप है। दूसरों के लिए अपने जीवन को खपा देने की प्रेरणा देते हुए, हमें एक नया दृष्टिकोण प्रदान करते हुए वे कहते हैं - देखो, मनुष्य अल्पायु है और ससार की सब वस्तुएँ वृथा तथा क्षणभंगुर हैं; पर वे ही जीवित हैं, जो दूसरों के लिए जीते हैं; शेष सब तो जीवित की अपेक्षा मृत ही अधिक हैं।'' यह हम न भूलें कि विकास ही जीवन और संकोच ही मृत्यु है। इसलिए प्रेम ही जीवन का मूलमंत्र है। प्रेम करनेवाला ही जीता है और स्वार्थी मरता रहता है। प्रेम के अभाव में आज संसार के सब धर्म प्राणहीन एवं परिहास की वस्तु हो गये हैं। संसार को उनकी आवश्यकता है, जिनका जीवन उत्कट प्रेम तथा निःस्वार्थता से पूर्ण है। ऐसा प्रेम प्रत्येक शब्द को वज्रवत शक्ति प्रदान करता है।

स्वामी विवेकानन्द ने मद्रास के अपने भक्तों को अमेरिका से एक पत्र में लिखा था - दुखियों के दुःख का अनभुव करो और उनकी सहायता करने को आगे बढ़ो, भगवान् तुम्हें सफलता देंगे ही। मैंने अपने हृदय में इस भार को और मस्तिष्क में इस विचार को रखकर बारह वर्ष तक भ्रमण किया। मैं तथाकथित बड़े और धनवान् व्यक्तियों के दरवाजों पर गया। वेदनाभरा हृदय लेकर और संसार का आधा भाग पार कर, सहायता प्राप्त करने के लिए मैं इस अमेरिका देश में आया। ईश्वर महान् है। मैं जानता हूँ कि वह मेरी सहायता करेगा। मैं इस भूखण्ड में शीत से या भूख से भले ही मर जाऊँ, पर हे तरुणो, मैं तुम्हारे लिए एक वसीयत छोड़ जाता हूँ; और वह है यह सहानुभूति – गरीबों, अज्ञानियों और दुःखियों की सेवा के लिए प्राणपण से चेष्टा।

स्वामीजी ने निःस्वार्थ बनने के लिए देश की तरुणाई का आह्वान किया था। कहा था - बहुत सारे जन्मों में अपने लिए तो जी ही चुके हो, क्यों नहीं यह एक जन्म दूसरों के लिए जीते। प्रयोग के तौर पर ही सही, यह जन्म दूसरों के लिए तो बिताकर देखो। आज हमारी यह मातृभूमि तुम जैसे कुछ सौ लड़कों का बलिदान चाहती है, जो अपने स्वार्थ को तिलांजलि दे अपना जीवन उसके चरणों में समर्पित कर दें। ऐसी निःस्वार्थता जीवन को धन्य बना देती है।

आचार्य रामानुज (२९)

स्वामी रामकृष्णानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका से वापस लौटने पर चेन्नै की जनता ने उनसे अनुरोध किया कि उस प्राचीन नगरी में भी वे धर्मप्रचार शुरू करें। इसी के उत्तर में उन्होंने अपने गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द को वहाँ भेजा। वहाँ से उन्होने बँगला मासिक 'उद्बोधन' के लिए श्री रामानुज के जीवन पर एक लेखमाला लिखी, जो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। यह उसी के हिन्दी अनुवाद की अगली कड़ी है। – सं.)

कुरेश-प्रसंग

भक्ताग्रगण्य कुबेर के श्रीक्षेत्र की ओर प्रस्थान करने के बाद, बाह्यदृष्टिहीन, अन्तश्चक्षुमान, दुर्लभ गुरुभक्ति के परम पवित्र विग्रह, भक्तावतार, विद्वद्वर कुरेश भगवान सुन्दरभुज की पूजा करने की इच्छा से अपने स्त्री-पुत्र के साथ श्रीरंगम छोड़कर कृष्णाचल गये और वहाँ कुछ काल निवास किया। वहाँ निवास के दौरान उन्होंने श्रीस्तव, सुन्दरभुज-स्तव, अतिमानुष-स्तव तथा श्रीवैकुण्ठ-स्तव की रचना कर कृतार्थता का बोध किया था। वहाँ से वे अपने गुरुदेव श्री रामानुज के पादपद्म स्पर्श करने की कामना से यादवाद्रि गये और जब अपने अभीष्ट देवता के सम्मुख पहुँचे, तो प्रगाढ़ भक्तिपूर्वक उनकी अर्चना करते हुए उनके चरणों में लोट गये। यतिराज ने स्नेहपूर्वक उन्हें उठाकर सप्रेम दृढ़ आलिंगन देते हुए कहा, "आज मैं परम भक्त का स्पर्श पाकर पवित्र एवं कृतार्थ हुआ। अहा, आज मेरा कितना शुभ दिन है !" श्री रामानुज की मधुर वाणी सुनकर कुरेश के नेत्रों से आनन्दाश्रु बह चले तथा कण्ठ अवरुद्ध हो गया। उनकी पत्नी व पुत्र पराशर ने भी यतिराज का अतीव अनुग्रह पाकर परम आनन्द का अनुभव किया। वे लोग बड़े सुखपूर्वक उन्हीं के संग निवास करने लगे।

दो-एक दिन बाद श्री रामानुज ने कुरेश को कहा, "वत्स, तुम कांचीपुर जाकर नेत्रों के लिए श्री वरदराज से प्रार्थना करो, वे निश्चय ही तुम्हारी अन्धता का नाश करेंगे। दुराचारी कृमिकण्ठ भी परलोक सिधार गया है। अत: अब भय का कोई कारण नहीं रहा। अब देरी मत करो।" गुरु का आदेश पाकर कुरेश ने 'जो आज्ञा' कहा और कांचीपुर चल पड़े। वहाँ श्री वरदराज के पास जाकर वे मनसा-वाचा-कर्मणा उनकी शरण लेते हुए स्तव करने लगे। प्रणत-जनों के दुखहर्ता वरदराज कुरेश की भक्ति पर सन्तुष्ट होकर बोले, "वत्स, कुरेश, तुम क्या चाहते हो। बोलो, मैं उसे अभी पूर्ण करूँगा।" महामना कुरेश ने हाथ जोड़कर कहा, "भगवन्, आपकी कृपा से चतुर्ग्राम को परमपद प्राप्त हो।" श्री वरदराज ने 'तथास्तु' कहा। कुरेश पुन: उनका स्तव करने लगे। श्री वरदराज बोले, "तुम और क्या चाहते हो? बोलो, मैं उसे पूर्ण करूँगा।" इस पर कुरेश ने कहा, "चतुर्ग्राम के स्वामी भी परमपद को प्राप्त हों।" श्री वरदराज ने पुन: 'तथास्तु' कहा। यह सुनकर कुरेश के आनन्द की सीमा न रही। वे अपने को कृतार्थ मानकर अपनी अन्धता के विषय में पूर्णत: भूलकर मन्दिर से अपने निवास पर लौट आये।

इस चतुर्ग्राम का स्वामी ही वह पाषाणहृदय दुराचारी था, जिसने कुरेश के दोनों नेत्र निकाल डाले थे। जो ऐसे भयंकर शत्रुओं को भी परमसुख में भागीदार बनाकर स्वयं को कृतार्थ मानते हुए आनन्दित हो सकते हैं, उन्हें क्या कहा जाय? उन्हें देवता कहना भी समीचीन न होगा, क्योंकि देवगण भी सर्वदा दैत्यों के विनाश की चेष्टा मे लगे रहते हैं। अत: उनका हृदय क्या कुरेश के विशाल हृदय के समतुल्य हो सकता है? ये भगवान की साक्षात् भक्तमूर्ति थे अर्थात् भगवान को यदि भक्त का रूप धारण करने की इच्छा हो, तो वे कुरेश के समान महापुरुष के स्वरूप का ही आश्रय लिया करते हैं। इसीलिए श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि भागवत, भक्त और भगवान – इन तीनों के बीच कोई भेद नही है। जो कोई इन तीनो में भेद देखता है, उसका भगवद्विषयक ज्ञान अब भी दूर की बात है।

यादवाद्रि में स्थित श्री रामानुज ने जब लोगों के मुख से सुना कि कुरेश ने अपने शत्रुओं का मंगल-विधान करके स्वयं को कृतकृत्य कर लिया है और अपनी दृष्टि की प्राप्ति के लिये कोई प्रयास नही किया, तो उन्होंने एक शिष्य के माध्यम से उन्हें आदेश भेजा, "वत्स कुरेश! तुम्हारे अलौकिक आनन्द-प्राप्ति करने की बात सुनकर मुझे असीम सुख हुआ है। परन्तु इसमें तुमने स्वयं ही आनन्द पाकर किंचित् स्वार्थपरता का भाव दिखाया है। अतएव अब मैं तुम्हें आदेश देता हूँ कि मुझे परम सुखी करने के लिए श्री वरदराज के चरणों से अपने नेत्रों की भिक्षा माँग लो। तुम्हें क्या विदित नहीं कि तुम, तुम्हारा शरीर तथा मन – यह सब मेरा है, तुम्हारा नहीं?"

कुरेश अपने गुरुभाई के मुख से इस परम अनुग्रह का संवाद पाकर आनन्द से नृत्य करने लगे और बोले, "आज मैं कृतार्थ हो गया। यतिराज ने इस महाविषयी को अंगीकार करके अपने अनन्त हृदय की अनन्त महिमा प्रकट की है। मैं इसी क्षण श्री वरदराज के पादपद्मों में शरणागत होकर उनसे यतिराज के लिए अपने दोनों नेत्रों की भिक्षा माँग लूँगा।" यह कहकर वे द्रुत वेग से चलकर सर्वाभीष्ट-पूरक श्री वरदराज के आनन्दमय सर्वजनमोहक विग्रह के सम्मुख जा पहुँचे और परम भक्तिपूर्वक उनका स्तव करने लगे। भक्तों के सन्तापहारी श्रीहरि ने कुरेश के प्रति सन्तुष्ट होकर कहा, "वत्स कुरेश, तुम

पुन: क्या माँगने आये हो? तुम्हारे लिए मेरे पास कुछ भी अदेय नहीं है। बोलो, मैं अभी तुम्हारे सारे मनोरथ पूर्ण कर दूँगा।'' इस पर कुरेश ने स्वयं को कृतार्थ मानकर कहा, ''भगवन्, कुछ काल पूर्व मैं अपने अभीष्ट देवता की दो प्रिय वस्तुएँ अपने दुर्भाग्य से खो बैठा हूँ। आपकी कृपा से आज पुन: उनकी प्राप्ति हो जाय।'' श्री वरदराज बोले, ''वत्स, इसी क्षण दो दिव्य नेत्र तुम्हारे परम पवित्र देह की शोभा बढ़ाते हुए तुम्हारे अभीष्ट देवता के अतिशय आनन्द के कारण बनें। तुम्हारे समान पवित्र भक्तों के दर्शन तथा सेवा हेतु ही मैं इस मर्त्यलोक में निवास कर रहा हूँ। जैसे भक्तगण मेरे दर्शन तथा सेवा के लिए प्रार्थना किया करते हैं, वैसे ही मैं भी भक्तों के दर्शन-सेवन को अपनी आनन्दप्राप्ति का एकमात्र उपाय समझता हूँ। ज्योतिहीन सूर्य के समान ही भक्तरहित भगवान भी अबोधगम्य हैं। सुन्दरी को निराकार कहना जैसा निरर्थक है, भक्तों से रहित भगवान कहना भी वैसा ही है।''

श्रीहरि की यह अमृतमयी वाणी सुनकर कुरेश परम आनन्द की अनुभूति से आत्मविस्मृत हो गये और चेतना लौटने के साथ जब उन्हें देहात्मबोध हुआ, तो अपने दोनों नेत्र पुन: पाकर उन्हें असीम हर्ष हुआ और वे सामने स्थित भगवान के विग्रह की ओर देखकर आँसू बहाते हाथ जोड़कर कहने लगे, ''भगवन्, तुम्हीं ने दिया था, तुम्हीं ने ले लिया और आज फिर तुम्हीं ने वापस कर दिया। हे इच्छामय, तुम्हारी दुर्बोध्य लीला का गाम्भीर्य मेरे समान क्षुद्र जीव भला कैसे समझ सकेगा? **आदावन्ते च मध्ये च** – आदि, अन्त तथा मध्य में तुम आनन्दघन हो। तुम्हारी सृष्टि आनन्दमयी है, तुम्हारी पालन-क्रिया आनन्दमयी है और तुम्हारी प्रलयकारिणी निद्रा भी आनन्दमयी है। मेरे समान अज्ञानान्ध जन ही तुम्हारे तथा तुम्हारी सृष्टि के सुखस्वरूप को दुखस्वरूप समझकर दुखपूर्वक जीवन बिताते हैं। आज तुम्हारी कृपा से मेरा अज्ञान दूर हुआ। अहो, मेरा कैसा सौभाग्य है! तुम्हारी कैसी कृपा है!''

ऐसा कहते कहते कुरेश आनन्दपूर्वक नृत्य करने लगे। उनका छलकता आनन्दाश्रु चारों तरफ खड़े लोगों को शन्तिजल से सिक्त करने लगा। उनके दोनों नेत्रों की ज्योति पुन: लौटी देख सभी अत्यन्त विस्मित हुए और सम्मुख स्थित भगवान तथा भक्त दोनों के ही प्रति उनमें प्रगाढ़ भक्ति का उद्रेक हुआ। वे लोग अपने को परम भाग्यवान तथा कृतार्थ मानने लगे। मित्रों द्वारा सम्मानित होने के बाद कुरेश मन्दिर से अपने निवास को लौटे।

शीघ्र ही यह समाचार सर्वत्र फैल गया और सभी श्री रामानुज तथा उनके शिष्यों को अलौकिक-शक्ति-सम्पन्न समझने लगे। दक्षिणी भारत के आबाल-वृद्ध-वनिता – सभी उन लोगों को ईश्वर-प्रेरित धर्मसुधारक मानने लगे। कहते हैं कि अपने भयानक शत्रु के प्रति भी कुरेश के परम अनुग्रह की बात सुनकर श्री रामानुज ने दोनों हाथ उठाकर सबके समक्ष नृत्य करते हुए कहा था, ''मेरे लिए परमपद की प्राप्ति निश्चित है, अब मैं इसके लिए बिल्कुल भी चिन्तित नहीं हूँ; क्योंकि कुरेश जब अपने शत्रुओं को भी मुक्तिदान में समर्थ हुआ है, तो फिर इसमें सन्देह नहीं कि उसके प्रभाव से मैं भी मुक्त हो जाऊँगा।'' अपने शिष्यों तथा भक्तों की महिमा बढ़ाना ही ईश्वर-तुल्य महापुरुषों का स्वाभाविक गुण है।

शिष्यों की अलौकिक गुणावली

यतिराज ने शिष्यों के साथ श्रीरंगम लौटने के लिए यादवाद्रि से विदा ली और मार्ग में भगवान सुन्दरबाहु के पूजनार्थ कुछ काल वृषभाचल में निवास किया। यह स्थान वर्तमान मदुरा के निकट स्थित है। पूर्वकाल में आण्डाल ने स्वरचित स्तव में भगवान सुन्दरबाहु से प्रार्थना की थी –

कुरुषे यदि मां देव पाणिग्रहणमङ्गलम्।
क्षीराद्यनेकसंयुक्त गुडान्नस्य घटीशतम्
समर्पये हरे तुभ्यं नवनीतघटीशतम्॥[१]

– हे हरि, यदि तुम मेरा पाणिग्रहण रूपी मंगल-विधान करो, तो मैं तुम्हें दूध आदि उत्तम द्रव्यों से बने सौ घड़े मीठे चावल तथा सौ घड़े मक्खन समर्पित करूँगी।

प्रभु ने आण्डाल की यह प्रार्थना पूर्ण की थी। वे प्रेममयी देवीस्वरूप सती श्रीहरि को अपने पति के रूप में पाकर तत्क्षण उन्हीं में विलीन हो गयीं, अत: अपना वचन पूरा नहीं कर सकी थीं। अत: श्री रामानुज ने आण्डाल के मानसिक संकल्प को पूरा करने के लिए भगवान सुन्दरबाहु को सौ घड़े मीठे चावल तथा सौ घड़े मक्खन का भोग लगाया। भ्राता के रूप में यह कार्य सम्पन्न करने के कारण वे गोदाग्रज अर्थात् गोदा या आण्डाल के ज्येष्ठ भ्राता के रूप में विख्यात हैं।

इसके बाद आण्डाल की जन्मभूमि देखने की इच्छा से वे श्री विलिपुत्तुर गये। वहाँ शेषशायी नारायण का दर्शन करने के उपरान्त उन्होंने आण्डाल के मन्दिर में प्रवेश किया और प्रेमपूर्वक उनकी पूजा व स्तुति करके स्वयं को धन्य माना। वहाँ कुछ काल निवास करके वे कुरुका नगरी गये और वहाँ से चलकर और भी कतिपय पवित्र स्थानों का दर्शन करते हुए अन्तत: वे अपने शिष्यों के साथ श्रीरंगम में शेषशायी नारायण का दर्शन करते हुए अपने मठ में जा पहुँचे। यतिराज के शुभागमन से वहाँ के समस्त नर-नारियों में मानो नये प्राण का संचार हुआ।

महात्मा कुरेश अपने गुरुदेव के आगमन का संवाद पाकर दौड़ते हुए उनके चरणों में प्रणत होने को चल पड़े। उनकी

१. प्रपन्नामृतम्, ५३/३-४

सहधर्मिणी तथा पुत्र पराशर भी उनके पीछे पीछे चले आ रहे थे। जो, जहाँ, जिस भी अवस्था में था, तत्काल श्री रामानुज का दर्शन करने चल पड़ा। यतिराज के मठ की ओर जनस्रोत प्रवाहित होने लगा। मठ में महोत्सव का सा वातावरण हो गया। कुरेश यतिराज से और यतिराज कुरेश से मिलकर अनिर्वचनीय आनन्द का आस्वादन करने लगे।

दो वर्ष बीत जाने के बाद भक्ताग्रगण्य कुरेश के शरीर को वार्धक्य-प्राप्ति हो जाने से उन्हें शय्याशायी होना पड़ा। उसी अवस्था में कुछ काल व्यतीत करने के उपरान्त उनका अन्तिम समय आ पहुँचा और वे भक्तों से परिवृत, यतिराज की उपस्थिति में, उच्च स्वर में हरिनाम सुनते, आनन्दाश्रु विसर्जित करते श्रीगुरु की पादुकाओं को हृदय से लगाये मर्त्यधाम को त्यागकर परमपद को प्राप्त हुए। इन महाभक्त के वियोग से कुछ काल के लिए सभी लोग शोकमग्न हो गये। यतिराज के नयनों से अविरल अश्रुधार बहने लगी। उन्होंने स्वयं को सँभाला और सबको सांत्वना-वाणी तथा ज्ञानगर्भित उपदेश द्वारा शान्त करके कहने लगे, "हे भक्तगण, आज से तुम लोग इन कुरेशनन्दन, पर वस्तुत: श्रीरंगनाथ स्वामी की सन्तान पराशर को अपने राजा के रूप में ग्रहण करो। भविष्य में ये ही विपुल वैष्णव-सम्प्रदाय को वशीभूत रखने में समर्थ हैं। इनकी भक्ति भी पिता के ही समान है और सहज ज्ञान-गाम्भीर्य में ये अतुलनीय हैं।"

यह कहकर यतिराज ने स्वयं ही कुरेश को सिंहासन पर बैठा दिया और उनके शीश पर पुष्प-मुकुट तथा गले में माला पहनायी। इसके बाद उन्होंने सभी भक्तों को उन्हें आशीर्वाद देने का निर्देश देकर स्वयं उनका आलिंगन करते हुए अपनी वैष्णव-शक्ति से पराशर को पूर्ण करके उन्हें कृतकृत्य तथा परम भाग्यवान बना दिया।

कुरेश की पवित्र देह का कावेरी के तट पर दाह किया गया और उस दिन सबने संकीर्तन महोत्सव मनाया। यतिराज के प्रभाव से किसी के भी मन में दुख का लेश तक न रहा। दिग्दिगन्त से सैकड़ों ब्राह्मण, वैष्णव, दीन, दरिद्र, अन्ध, पंगु आकर श्रीरंगनाथ स्वामी का भरपेट प्रसाद पाते हुए अपने को परम सुखी तथा परम सौभाग्यवान समझने लगे।

महात्मा कुरेश के वैकुण्ठ-गमन के पश्चात् यतिराज श्रीरंगम त्यागकर अन्यत्र कहीं नहीं गये। विभिन्न स्थानों से उनका दर्शन करने की कामना लिए इतने नर-नारियों का वहाँ समावेश होता कि उनकी गणना ही नहीं हो सकती थी। उस समय उनकी आयु साठ वर्ष थी। इसके बाद भी वे साठ वर्ष तक शिष्यों से परिवृत होकर समस्त लोकों का कल्याण करते हुए परम सुख के साथ श्री रंगनाथ स्वामी के चरणों में रहे। आन्ध्रपूर्ण सदा उनकी सेवा में लगे रहते थे। श्री रामानुज ही उनके सर्वस्व थे। उनके अतिरिक्त वे किसी अन्य ईश्वर को नहीं जानते थे।

एक बार श्री रंगनाथ स्वामी अपने दल-बल के साथ भक्तों को दर्शन देकर कृतार्थ करने के लिए मन्दिर के बाहर आये हुए थे। उनका दर्शन करने की इच्छा से जो जहाँ थे, वहीं से आकर पथ के मध्य में अनेक वाहकों द्वारा ले जाये जाते हुए पुष्पराशि-सुशोभित, त्रिलोकनाथ, लक्ष्मीसहाय भगवान की पूजा करने लगे। श्री रामानुज भी शिष्यों के साथ अपने मठ से निकलकर आये और भगवान का दर्शन एवं पूजन कर स्वयं को कृतार्थ मानने लगे। आन्ध्रपूर्ण उस समय यतिराज के लिए दूध उबाल रहे थे। वे उसे चूल्हे से उतारकर अनायास ही श्री रंगनाथ स्वामी का पूजन करने जा सकते थे। परन्तु उनके मन में एक क्षण के लिए भी ऐसा करने की कामना उत्पन्न नहीं हुई। वे गुरुसेवा को ही सर्वश्रेष्ठ मानते थे, अत: उसे छोड़कर वे अन्य कोई भी कर्म करना नहीं चाहते थे। अत: यतिराज ने जब उनसे पूछा, "हम सभी देव-दर्शन को बाहर गये थे, उस समय तुम अकेले ही मठ में रहकर क्या कर रहे थे?" इसके उत्तर में आन्ध्रपूर्ण ने कहा, "हे दीनशरण, बाहर स्थित देवता की उपासना से गृहदेवता की सेवा में त्रुटि होगी, यह सोचकर मैं बाहर जाकर श्री रंगनाथ स्वामी का दर्शन-लाभ नहीं कर सका। उस समय मैं रसोईघर में व्यस्त था।" यह सुनकर श्री रामानुज तथा सभी शिष्य परम विस्मित तथा सन्तुष्ट हुए।

यतिराज के सभी शिष्य परम गुणवान थे। अनन्ताचार्य नामक जो शिष्य गुरुदेव का आदेश शिरोधार्य कर अपनी पत्नी के साथ श्रीशैल (तिरुपति) जाकर निवास कर रहे थे, वे भगवत्कार्य को ही जीव का एकमात्र अवलम्बन समझकर प्रतिक्षण उन्हीं की उपासना में लगे रहते थे। श्रीशैल में रहते हुए उन्होंने देखा कि जल के अभाव में वहाँ के भक्तगण बड़ा कष्ट पा रहे हैं। अत: अपने ही हाथों उन्होंने वहाँ एक तालाब खोदने का संकल्प किया। शीघ्र ही उन्होंने खनन-कार्य आरम्भ भी कर दिया। उनकी भार्या खुदी हुई मिट्टी को सिर पर उठाकर दूर फेंक आती थीं। अनेक वर्ष तक वे इस कार्य में लगे रहे। एक बार उनकी सहधर्मिणी गर्भवती अवस्था में ही खोदी हुई मिट्टी को वहन करते हुए धीमे कदमों से चलकर उसे दूर फेंक रही थीं। वास्तव में उस समय वे बड़ी थकान का अनुभव कर रही थीं। कई बार बोझ ढोने के बाद जब वे विश्राम के लिए एक वृक्ष की छाया में बैठीं, तो प्रगाढ़ निद्रा में डूब गयीं। कहते हैं कि सर्व लोकों के सन्तापहारी श्रीहरि ने यह देखकर स्वयं ही उनका रूप धारण किया और पात्र लेकर मिट्टी ढोने लगे। वे इतनी शीघ्रतापूर्वक वह कार्य पूरा करने लगे कि खनन-कार्य में लगे अनन्ताचार्य ने सन्देहपूर्वक उनकी

ओर देखते हुए पूछा, "जब हमने कार्य आरम्भ किया, उस समय तो तुम पाँव भारी होने के कारण बहुत धीरे धीरे मिट्टी ढो रही थी और अब तक तो और भी थक जाना था, परन्तु देखता हूँ कि तुम एक बलिष्ठ युवक के समान फुर्ती से काम कर रही हो । इसका कारण क्या है?" ऐसा पूछे जाने पर उनकी पत्नी का रूप धरे भगवान, कोई उत्तर देने के स्थान पर, हल्के से मुस्कुराते हुए उनकी ओर देखने लगे। इस पर अनन्ताचार्य का सन्देह और भी बढ़ गया और वे काम छोड़कर कुदाल हाथ में लिए तालाब के बाहर निकल आये। उन्होंने देखा कि निकट ही एक वृक्ष के नीचे उनकी सहधर्मिणी प्रगाढ़ निद्रा में डूबी हुई हैं। तब उन्होंने रोषपूर्ण नेत्रों के साथ प्रहार करने को कुदाल उठाकर उस मृदु हास्यमयी नारी की ओर देखते हुए कहा, "तुम महा मायावी हो। पूरे जगत् को अपनी माया से अभिभूत करके भी तुम्हें सन्तोष नहीं हुआ। आज तुमने इस निरपराध अकिंचन ब्राह्मण दम्पति का दासत्व नष्ट करने के लिये स्त्रीवेश धारण किया है। हम तुम्हारे भक्त हैं। तुम्हारी माया में भला इतनी शक्ति कहाँ, जो तुम्हारे दासों का कोई अपकार कर सके? तुम स्वयं मंगलमय हो, तथापि भक्तों का अमंगल ही तुम्हारा अमंगल है। बोलो तो, अपने दासों के लिये तुम्हें क्या नहीं करना पड़ा है? कौन नहीं जानता कि तुम्हें तप्त तेल में तला गया है, हाथी के पैरों-तले रौंदा गया है, क्षत्रियों का दूत तथा सारथी बनना पड़ा है, बनवास भोगना पड़ा है, गोपिकाओं द्वारा रस्सी से बाँधा गया है और इस प्रकार अनेक निम्न प्रकार के क्लेश तुम्हें सहने पड़े हैं? अतएव हे नाथ, हमारे दासत्व की हानि के द्वारा अमंगल करके क्यों स्वयं भी अमंगल के भागी बनते हो?"

ऐसा कहते कहते परम भागवत अनन्ताचार्य भगवद्दर्शन से उत्पन्न आनन्दाश्रु विसर्जित करने लगे। कुदाल उनके हाथ से खिसककर भूमि पर गिर पड़ी। उस हास्यमयी नारीमूर्ति ने क्रमश: सर्वांग-सुन्दर श्रीकृष्ण का परम मोहन रूप धारण कर लिया। उनके दर्शन से आनन्द की पराकाष्ठा की अनुभूति करके स्तुति करते हुए अनन्ताचार्य संज्ञाहीन होकर भूमि पर गिर पड़े । इसी बीच भगवान की कृपा से उनकी सहधर्मिणी की भी निद्रा टूट गयी और वे भी अपने पतिदेव द्वारा स्तूयमान जगन्मोहन का दर्शन कर, उन्हीं के समान आनन्दविभोर होकर उनके पास जा खड़ी हुई। भगवान भी अपने भक्तों के प्रति विपुल अनुग्रह व्यक्त करने के बाद अपनी माया के परदे की ओट में अदृश्य हो गये। अनन्ताचार्य द्वारा खुदा हुआ सरोवर आज भी श्रीशैल में 'अनन्त-सरोवर' के नाम से विख्यात होकर उन महात्मा की यश-घोषणा कर रहा है।

उदार एवं निर्मल हृदयवाले भक्तों के प्रति श्री रामानुजाचार्य की कैसी प्रगाढ़ भक्ति थी, इसे निम्नोक्त घटना द्वारा विशेष रूप से समझा जा सकता है। एक बार एक सरलचित्त भक्तिपरायण ब्राह्मण यतिराज के पास आकर बोले, "महात्मन्, मैं आपकी सेवा के द्वारा अपनी आत्मा को पवित्र करना चाहता हूँ। आप सर्व-लोक-पावन परमगुरु हैं। आपकी सेवा करके मुझे फिर कभी त्रिविध तापों के हाथ में पड़कर असंख्य दुख नहीं भोगने पड़ेंगे।" इस पर श्री रामानुज ने कहा, "हे विप्र, आपका संकल्प उत्तम है। दासत्व के अतिरिक्त जीव की मुक्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं है। यदि आप दासत्व के द्वारा मुझे आनन्द प्रदान करना चाहते हैं, तो फिर मेरे साथ रहकर आपको क्या करना होगा, यह मैं बता दूँगा।" इस पर सदगुण-सम्पन्न द्विज आग्रहपूर्वक बोले, "प्रभो, अभी बताइए । मैं करने को तैयार हूँ।"

श्री रामानुज ने उनका तीव्र आग्रह देखकर कहा, "विप्रवर, आज से मैंने ऐसा संकल्प किया है कि परमपावन विप्र-पादोदक का पान करके देह-मन को पवित्र करके ही मैं प्रतिदिन पूजा में बैठा करूँगा। आज भाग्यवश भगवत्कृपा से मुझे आपके समान विशुद्ध-स्वभाव ब्राह्मण प्राप्त हुए हैं, अत: आप यहीं निवास करते हुए प्रतिदिन अपना पवित्र पादोदक देकर मुझे कृतार्थ करें। यही मेरी सच्ची सेवा होगी ।"

सरलता की प्रतिमूर्ति उदार ब्राह्मण ने अपनी स्वीकृति दी। वे प्रतिदिन मठ में ही यतिराज की प्रतीक्षा करते। मध्याह्न के समय श्री रामानुज परमपूत कावेरी के जल में स्नान करने के बाद उन विप्र का श्रीपाद-तीर्थ सेवन करके प्रतिदिन इष्टपूजा में बैठते। एक बार किसी शिष्य के निमंत्रण पर वे कावेरी में स्नान के बाद भिक्षा के लिए उसके घर गये थे। वहाँ पूजा आदि के उपरान्त श्रीमन्नारायण का प्रसाद ग्रहण करने तथा थोड़ी देर विश्राम के बाद वे समवेत बहुत-से भक्तों के साथ भगवच्चर्चा करते रहे। एक प्रहर रात बीत जाने के बाद वे अपने मठ लौटे। मठ में प्रविष्ट होकर यतिराज ने देखा कि वे उदारचरित ब्राह्मण तब भी निर्दिष्ट स्थान पर बैठे उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। यतिराज ने विस्मित होकर उनसे पूछा, "महात्मन्, आप क्या मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं? आपका भोजन आदि तो हुआ है न?" ब्राह्मण ने हास्यपूर्वक कहा, "आपका दासत्व किये बिना मैं भला कैसे प्रसाद ग्रहण कर सकता हूँ?" विप्र की इस बात पर यतिराज परम सन्तुष्ट होकर बोले, "धन्य हैं आप! आप दास्यभक्ति की पराकाष्ठा तक पहुँच चुके हैं। आपके समान महापुरुषों का ही दासत्व पर अधिकार है। भक्ति के बल से आपने चिरकाल के लिए भगवान को अपने हृदय में आबद्ध कर लिया है।" यह कहकर उन्होंने बारम्बार उनके पादोदक का सेवन किया और अपने समस्त सेवको को भी कराया। यतिराज के प्रभाव से विप्रवर भी कृतकृत्य हो गये।

❖ (अगले अंक में समाप्य) ❖

जीने की कला (१)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी दो भागों में निकला है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। अनुवादक है श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत हैं। – सं.)

धन से सुख-शान्ति नहीं मिलती

जीवन में सुख-शान्ति केवल धन पर निर्भर नहीं करती – इस बात को कई उदाहरणों से प्रमाणित किया जा सकता है।

समाज के एक गणमान्य व्यक्ति कई सामाजिक संस्थाओं के पदाधिकारी हैं। उसने जन-कल्याण के कार्य किये हैं और अपने अंचल के अनेक परिवारों को लाभ पहुँचाया है। उन्होंने एक प्रतिष्ठित परिवार में जन्म लिया और अनेक सत्कर्म किये हैं। वे एक सत्यनिष्ठ व्यक्ति हैं। उन्होंने कठोर परिश्रम से अपने परिवार की स्थिति में सुधार किया। परन्तु अभी हाल ही में एक भाई तथा चार पुत्र-पुत्रियों से युक्त उनके परिवार में बँटवारा हो गया है।

आज वे वयोज्येष्ठ सज्जन अपनी पत्नी, बच्चों तथा घर से दूर निवास करते हैं। वे तीव्र मानसिक तनाव तथा क्षोभ से पीड़ित हैं। आर्थिक रूप से समृद्ध होने पर भी, केवल वे ही नहीं, अपितु उनके घर का हर सदस्य किसी-न-किसी मानसिक पीड़ा से त्रस्त है। आज पिता और उनकी सन्तानें मुकदमेबाजी में फँसकर अदालतों के चक्कर लगा रहे हैं। ऐसा क्यों हुआ? ऐसा क्यों होता है? क्या उनके भाग्य में केवल दु:ख भोगना ही बदा है? इस वृद्ध सज्जन का उद्धार कैसे हो? उनके मन की प्रसन्नता कैसे वापस आ सकती है? धन यदि सुख या शान्ति न ला सके, तो फिर उसकी उपयोगिता ही क्या है?

विधिशास्त्र के एक सुख्यात् प्रोफेसर का एक पुत्र है। उस बालक ने आठ या नौ वर्ष की आयु में एक दूकान से काँच का एक टुकड़ा खरीदा। उस बच्चे की माँ कहती है कि उसी दिन से उनका दुर्भाग्य शुरू हो गया। तब से लेकर पिछले छह या सात वर्षों तक वह बालक स्वस्थ मानसिक हालत में नहीं रहा। कोई भी यह नहीं जान पाता कि वह तीन अल्शेसियन कुत्तों द्वारा सुरक्षित घरों से घड़ी या टेपरिकार्डर कैसे उठा लाता है। इससे भी विचित्र बात यह है कि उसे दूसरों के घरों के आसपास मलत्याग करने की बुरी आदत पड़ गयी। उसमें एक और भी विचित्र आदत है। वह किसी के भी घर का दरवाजा खटखटाता है। फिर दरवाजा खुलने पर वह कहने लगता है, "क्षमा कीजिये, मैं यहाँ गल्ती से आ गया।" घर में किसी के न होने पर वह मनपसन्द चीजें उठा लेता है। वह घरों में घुसता कैसे है? वह खिड़कियों की छड़ों को आसानी से मोड़ डालता है। चुराई चीजों का वह क्या करता है? वह उन्हें कहीं छिपा देता है। वह अपने माता-पिता के प्रति भी अपशब्दों का प्रयोग करता है। एक डायरी में वह अपने नित्य किये गये कार्यों को लिखकर रखता है। अपनी कक्षा की एक लड़की से उसने पत्राचार भी आरम्भ किया। उसे उस लड़की का विश्वास भी हासिल हो गया है। उसे सतत धूम्रपान करने की लत लग गयी है। एक मनो-चिकित्सक ने उसे सोशियोपैथ का रोगी बताया। मनो-चिकित्सक ने उसके माता-पिता को आश्वस्त किया कि प्रेम और धैर्यपूर्वक चिकित्सा करने पर उनका पुत्र कुछ वर्षों में ठीक हो जायेगा। कुछ काल बाद उसका व्यवहार असह्य हो जाने पर उसके माता-पिता ने उसे मनो-चिकित्सालय में भर्ती करा दिया। वहाँ से उसने भाग निकलने का निष्फल प्रयास किया। यहाँ तक कि एकबार उसने आत्महत्या की भी चेष्टा की। आजकल वह अपने माता-पिता को धमकी देकर कहता है, "परीक्षाफल घोषित हो जाने दीजिये। मैं आप लोगों को मार डालूँगा।" विशेषज्ञ कहते हैं कि प्रेम और स्नेह से इस बालक का उपचार होना चाहिए। परन्तु यह है कितना कठिन!

उस बालक की दादी कहती है "आह, ये दुखदायी बच्चे हमारे पूर्वजन्म के कुकर्मों का फल है। ये बच्चे हमारी नियति हैं। कोई क्या कर सकता है?" इस बालक के पिता युक्तिवादी हैं और वे अपने पुत्र के आरोग्य हेतु आधुनिक चिकित्सा में विश्वासी हैं। वे भगवान या प्रार्थना में विश्वास नहीं करते। उसकी माँ अब भी यह निश्चित नहीं कर सकी है कि वह किस देवता की मनौती माने। यह बालक समूचे परिवार के लिये वास्तविक सरदर्द बना हुआ है।

क्या वे इस कष्ट से उबर नहीं सकते? क्या सदा-सर्वदा दु:ख भोगते रहना ही उनके भाग्य में बदा है? ऐसी बात नहीं कि इस समस्या का कोई हल ही न हो। जहाँ चाह, वहाँ राह।

संशय का विष

शंका तथा चिन्ता और भय तथा तनाव – ये सभी साथ साथ लगे रहते हैं। ये परस्पर अविभाज्य हैं। जब किसी व्यक्ति के मन में कोई सन्देह घुस जाता है, तो वह विनाश की ओर उन्मुख हो जाता है। उसका जीवन एक त्रासदी बनकर रह जाता है। निम्नलिखित घटनाएँ इसका प्रमाण हैं –

दिनेश नाम का एक युवा पुलिस अधिकारी अपने प्रभावी चेहरे-मोहरे तथा व्यक्तित्व के लिए अपने परिवार और मित्रों में बड़ा लोकप्रिय था। वह अपनी पत्नी के साथ खरीददारी करने

गया था। संयोगवश तभी उसके पास खड़ी एक युवती उसकी ओर देखकर मुस्कुरा दी। दिनेश की श्रीमती ने इसे देखा और तत्काल अपने पति पर सन्देह कर बैठी। वह चिन्तित और ईर्ष्यालु हो गयी। उसे विश्वास हो गया कि कि वह युवती उसके पति की प्रेयसी है। तब से वह निरन्तर अपने पति को ताने और धमकी देकर परेशान करती रहती है। दिनेश चाहे जितना भी उसे समझाने का प्रयास क्यों न करे, वह उसकी बातों से आश्वस्त नहीं होती। सन्देह और ईर्ष्या से पगला गयी है। कभी कभी वह किसी नम्बर पर टेलिफोन मिलाकर उस घर की महिला को धमकाते हुए कहती है, "धन के लोभ से तुमने मेरे पति को सम्मोहित करके एक सुखी परिवार उजाड़ दिया – तुम दुश्चरित्र नारी हो।" दिनेश एक बार जब एक क्लब में एक महिला से बातें कर रहा था, तो उसकी पत्नी ने वहाँ पहुँचकर बड़ा हंगामा खड़ा कर दिया। बेचारा दिनेश सबके सामने अत्यन्त लज्जित हो गया। यहाँ तक कि उसने अपनी पत्नी को तलाक देने का भी असफल प्रयास किया। कभी सुखद वैवाहिक जीवन बिताने के बाद अब वह अपनी पत्नी से पीड़ित है। वह एक ऐसे विवाह-बन्धन में फँसा हुआ है, जो दोनों के लिए नारकीय बन गया है। क्या उसके उद्धार का कोई उपाय नहीं है?

लक्ष्मी देवी एक अविवाहित प्रौढ़ महिला हैं। उनके पास अपना निजी मकान तथा पैतृक सम्पत्ति है। उनका समय घरेलू कार्यों, पूजा, प्रार्थना तथा स्वाध्याय में बीतता है। उनकी छोटी बहन भी काफी पढ़ी-लिखी है और वह एक कॉलेज में प्राध्यापिका है। वह भी अविवाहित है। इन दोनों बहनों का एक भाई चालीस वर्ष से अधिक आयु का है। वे उसका विवाह करना चाहती हैं ताकि उनकी वंश-परम्परा चलती रहे, पर उन्हें अपने प्रयास में सफलता नहीं मिली। उनका अस्सी वर्ष की आयुवाला एक निकट-सम्बन्धी मनगढ़न्त बातें फैलाकर इसमें बाधा डालता रहता है। विवाह तय हो जाने के बाद हर बार वह कुछ अफवाहें फैलाकर या गलत सूचना देकर प्रस्तावित विवाह को रद्द करा देता है। दोनों बहनें इस दुष्ट बुड्ढे के षड्यंत्रों से तंग आ चुकी हैं। उनका भाई उन्हें सान्त्वना देते हुए कहता है, "बहनो, तुम लोग चिन्ता मत करो। मुझे अविवाहित ही रहने दो। विवाह में भला क्या रखा है?" अपनी दुर्भाग्यपूर्ण दुर्दशा का दुःख भोगते रहने के बावजूद दोनों बहनों ने अभी आशा नहीं छोड़ी है। वे अपने को पूरी तौर से असहाय पाती हैं। क्या उनके दुःखों का अन्त होगा?

राजू अपनी पसन्द की एक लड़की से शादी करना चाहता है। परन्तु उसके माता-पिता उसकी पसन्द का अनुमोदन नहीं करते। किसी ने उस लड़की के विरुद्ध उनके मन में जहर घोल दिया। वे लोग राजू को धमकी देकर कहते हैं, "हम गुण्डों से तेरी पिटाई करवा देंगे; जादू-टोने तथा काले जादू की सहायता से तुझे अन्धा कर डालेंगे। यदि तुम उस लड़की से विवाह करोगे, तो हमारा अभिशाप तुम दोनों को बरबाद कर देगा।" अब राजू के दिमागी सन्तुलन बिगड़ गया है। यद्यपि कुछ लोगों ने उसे सहायता के लिए भगवान से प्रार्थना करने की सलाह दी है, पर वह ऐसा कर पाने में असमर्थ है; क्योंकि उसकी ईश्वर, प्रार्थना, धर्म आदि में जरा भी आस्था नहीं है। वह स्वयं को वैज्ञानिक प्रवृत्ति-सम्पन्न कहता है। अब वह युवक अवसादग्रस्त होकर अत्यन्त निराश हो चुका है। क्या उसके लिए इस कठिनाई से मुक्त होने का कोई उपाय नहीं है?

मैं क्या करूँ?

"मैंने भगवान से प्रार्थना करने की चेष्टा की है, परन्तु मेरा चित्त एकाग्र नहीं होता। मेरी मन की शान्ति चली गयी है। मैं बड़ी जल्दी उद्विग्न होकर अनुचित बातें कह देता हूँ। बाद में मुझे अपनी गल्ती का पछतावा होता है। पर मैं स्वयं में सुधार नहीं कर सका हूँ। मैं सफलता की आशंका से स्वर्णिम भविष्य के स्वप्न देखा करता था। अब मैं महसूस करता हूँ कि मैं बिल्कुल असफल रहा। मैं क्षीणकाय व्यक्ति हूँ। मेरे छोटे कद के कारण लोग प्राय: मेरी हँसी उड़ाते हैं। इतने सारे अपमान और दुःख-कष्ट मैं कैसे सह सकता हूँ? अनजाने में ही मैं अनैतिकता की ओर बढ़ रहा हूँ। यदि एक दिन मैं अपराधी बन जाऊँ, तो इसमें किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

प्रार्थना, सत्संग, अच्छे तथा पवित्र ग्रन्थों का नियमित पाठ और अच्छी आदतें डालकर व्यक्ति अपने मन पर निग्रह करना सीख सकता है। धैर्य, अध्यवसाय और ईमानदारी के साथ इन निर्देशों का पालन करने पर सफलता निश्चित है। जब हम भोजन और विश्राम के लिए यथेष्ट समय निकाल लेते हैं, तो फिर यह कहना बेमानी है कि अत्यधिक व्यस्त होने के कारण हम प्रार्थना करने के लिए समय नहीं निकाल सकते। व्याकुलता के साथ प्रयास करने पर हम निश्चय ही समय निकाल सकेंगे। विलियम जेम्स ने कहा है, "हमें अपनी प्रयत्नशीलता को सजीव बनाये रखना है।" हमें दृढ़ संकल्प के साथ आगे बढ़ना है, तो फिर हमारी प्रगति निश्चित रूप से होगी।

वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में हम अभाव का अनुमान लगाकर खाद्यान्नों का भण्डारण करते हैं। बिजली जाने की सम्भावना हो, तो लोग उस स्थिति से निपटने के लिये तैयार रहते हैं। माँ यदि कहीं दूर गयी हो, तो हम कहीं-न-कहीं अपने भोजन की व्यवस्था कर ही लेते हैं। धोबी के न आने पर हम स्वयं ही कपड़े धोते हैं। हम घण्टों बैठकर टेलीविजन, सिनेमा आदि देखते रहते हैं। तो भी सर्वशक्तिमान प्रभु की महिमा का चिन्तन के लिए कोई अपने प्रतिदिन के चौबीस घण्टों में से चौबीस मिनट का समय भी नहीं निकाल पाता।

अभी आरम्भ कर दो

अपनी सीमित बुद्धि तथा अन्तर्दृष्टि के द्वारा हमारे लिए यह समझना और बता पाना कठिन है कि हम क्यों दु:ख भोगते हैं और हमारे दु:ख-कष्टों का क्या तात्पर्य तथा उद्देश्य है। परन्तु यदि हम कष्टों से मुक्ति पाने की सही तकनीक सीख लें तथा स्थिति से निपटने के सही उपाय अपनाएँ, तो परेशान करनेवाली कठिनाइयों से निश्चय ही मुक्त हो सकते हैं। अनेक लोगों ने कठिनाइयों के इस महासमुद्र को सफलतापूर्वक पार किया है। उनके पदचिह्नों का अनुसरण करके हम भी अपनी सारी परेशानियों से छुटकारा पा सकते हैं। खुली आँखों से न दिखनेवाले पदार्थ सूक्ष्मदर्शी के द्वारा स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। खगोलीय पिण्डों तथा दूरवर्ती चीजों को केवल एक दूरदर्शी यंत्र (टेलीस्कोप) की सहायता से देखा जा सकता है। यह ब्रह्माण्ड सूक्ष्म तथा अबोधगम्य नियमों द्वारा परिचालित होता है, जिसे साधारण मानव-मन पूरी तौर से नहीं समझ सकता। सुख तथा दु:ख हमारे पूर्वकृत कर्मों के परिणाम हैं। आगे के एक अध्याय में इस विषय में सविस्तार चर्चा की जायेगी। हम अपनी वर्तमान समस्या या संकट का कारण नहीं समझ सकते। परन्तु हर चीज का निश्चित रूप से एक-न-एक कारण अवश्य हुआ करता है। हमें स्मरण रखना होगा कि वर्तमान दु:ख हमारे सत्कर्मों के परिणाम नहीं हैं। दूसरे शब्दों में, सत्कर्मों के फल से कभी दु:ख या कष्ट नहीं मिलता। परन्तु स्वाभाविक रूप से ही कर्म के ये सूक्ष्म नियम या कार्य-कारण सम्बन्ध कभी कभी सामान्य लोगों को भ्रमित कर देते हैं। परन्तु हमें यह जान लेना चाहिए कि हर घटना इन सूक्ष्म और अनिवार्य नियमों के अनुरूप ही घटती है।

हम इस बात पर आश्चर्य कर सकते हैं कि भले तथा सज्जन लोग भी क्यों इतना दु:ख भोगते हैं! बहुत-से लोग यह समझ ही नहीं पाते कि कि सत्कर्मों में निरत सज्जनों और भगवद्भक्तों को अपने जीवन में इतने दु:ख क्यों भोगने पड़ते हैं और इस कारण उनका भगवान पर से विश्वास ही उठ जाता है। ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो किसी प्रश्न का उत्तर न जानने पर यह सोचते हैं कि उसका कोई उत्तर ही नहीं हो सकता। वस्तुत: समस्याएँ चाहें जितनी भी जटिल क्यों न हों, उनका कोई-न-कोई समाधान तो होता ही है। मनुष्य को अपने हाथ आनेवाले अवसरों के सर्वोत्तम उपयोग पर अधिक ध्यान देना चाहिए। घर में आग लगी हो, तो व्यर्थ की चर्चाओं में समय गँवाना निरर्थक ही नहीं, बल्कि खतरनाक भी सिद्ध हो सकता है। हमें तेजी से आग बुझाने के कार्य में लग जाना होगा। एक बच्चे का उदाहरण लें। यदि आप उसे आकाश के किसी बड़े तारे के विषय में बताएँ, तो वह मनोयोगपूर्वक सुन भले ही ले, पर वह असंख्य आकाशगंगाओं आदि को अच्छी तरह समझ नहीं सकेगा। मस्तिष्क थोड़ा परिपक्व हो जाने पर ही वह इन चीजों को सही परिप्रेक्ष्य में समझ सकेगा। अनुभव तथा प्रार्थना द्वारा परिपक्व और संयमित मन ही जीवन के उच्चतर मूल्यों, आध्यात्मिक नियमों आदि की धारणा कर सकता है। हमारे आगे बढ़ने के लिए प्रबुद्ध लोगों द्वारा दिखाये गये पथ के अलावा दूसरा मार्ग ही क्या है? भगवान के श्रीचरणों का स्पर्श पाकर धन्य हुए महात्माओं में विश्वास के सिवा हम और कर ही क्या सकते हैं? हमें नि:सन्देह और नि:संकोच उनकी शिक्षाओं पर निर्भर रहना होगा। ईश्वर में विश्वास या उनसे प्रार्थना न करने पर हमीं घाटे में रहेंगे। यदि हम ईश्वर को धमकी देते हुए कहें, "यदि आप हमारे जीवन को पूर्णतया निर्विघ्न, सुचारू तथा सभी चिन्ताओं एवं समस्याओं से रहित नहीं बनाते तो मैं आपमें विश्वास नहीं करूँगा।" तो इससे उनका कुछ भी नहीं बिगड़ता। दु:ख-कष्ट हमें सबल बनाने और हमारे मन और हृदय को शुद्ध करने के लिये ही आते हैं। सबको समर्पण और निष्ठाभाव से ईमानदारीपूर्वक भगवान से प्रार्थना करनी चाहिए। इससे निश्चय ही हमारा परम कल्याण होगा। भगवान हमारा मार्गदर्शन करेंगे।

निरन्तर दु:ख

हमने प्राय: 'जीवन की समस्याएँ' शब्द का प्रयोग किया है। यहाँ समस्याओं से हमारा अभिप्राय भोजन, वस्त्र तथा मकान के अभाव जैसी आर्थिक कठिनाइयों से नहीं है; वैसे भारत जैसे निर्धन देश में ये समस्याएँ सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। समग्र समाज के सम्मिलित एवं एकनिष्ठ प्रयत्नों के द्वारा उचित सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक सुधारों को अपना कर अकाल और अभावजन्य इन समस्याओं का समाधान हो सकता है। पश्चिम के कुछ राष्ट्र इन समस्याओं से सफलतापूर्वक निपट चुके हैं। पर जीवन की कुछ आधारभूत समस्याओं और गरीबी के बीच कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। यहाँ सन्दर्भित समस्याएँ हमारे अस्तित्व से जुड़ी हैं। उन्हें बाहरी या भौतिकवादी साधनों द्वारा हल नहीं किया जा सकता। ये अस्तित्व सम्बन्धी समस्याएँ 'दु:ख' कही जाती हैं। एक गरीब व्यक्ति किसी धनी व्यक्ति की अपेक्षा अधिक प्रसन्न और सन्तुष्ट रह सकता है। यह दर्शाता है कि हमारा दु:खबोध अथवा हमारे सुख या दु:ख हमारी भौतिक सम्पत्ति पर निर्भर नहीं है। किसी व्यक्ति द्वारा अनुभूत दु:ख की तीव्रता उसके अपने व्यक्तित्व पर निर्भर होती है। अस्तित्व सम्बन्धी इन सीमाओं और अभाव के अर्थ में ही गौतम बुद्ध ने इस संसार को दु:खमय बताया। रोग, वृद्धावस्था और मृत्यु ऐसी समस्याएँ थीं, जिनसे बुद्ध का जीवन तथा चिन्तन काफी प्रभावित हुआ। यदि उनका किसी भूखे व्यक्ति से सामना हुआ होता, तो वे उसे यथेष्ट भोजन दे देते। वे गरीबी की समस्या से निपटने के लिए कृषि तथा आर्थिक हल सुझा सकते थे। वस्तुत: उन्होंने मनुष्य के दु:ख का ठीक ठीक कारण ढूँढ़ निकालने का प्रयास किया।

आप पूछ सकते हैं, "सांसारिक साधनों की सहायता से हम मानव जीवन की इन आधारभूत समस्याओं को क्यों नहीं हल कर सकते?" भय, चिन्ता, असन्तोष, प्रेम, घृणा आदि जैसी भावनाएँ और अनुभव मानव-व्यक्तित्व के साथ जटिल रूप से रची-बसी हैं। ये समस्याएँ मानव के निजी अस्तित्व के साथ अविभाज्य रूप से जुड़ी हैं। बाह्य पर्यावरण, लोग आदि हमारे दुःख-कष्ट के प्रमुख कारण नहीं हैं। इन सभी समस्याओं का मूल हमारी चेतना की गहराई में है। हमें केवल वहीं इनका समाधान ढूँढ़ना है। साधना या आध्यात्मिक जीवन इन समस्याओं का सामना करने में हमारा सहायक होता है। इन अटल और अपरिहार्य समस्याओ को केवल आध्यात्मिक साधनों द्वारा ही सुलझाया जा सकता है। हमें इन सभी समस्याओं का आध्यात्मिक हल खोजना है। इसका दूसरा कोई उपाय नहीं।

सुख की मृग-मरीचिका

दुर्योधन द्वारा निष्कासित होने के बाद विदुर हस्तिनापुर छोड़कर साधु-वेश में घने जंगलों में विचरण कर रहे थे। वर्षों बाद वे श्रीकृष्ण के एक परम भक्त उद्धव से मिले। उन्होंने महाभारत युद्ध के दौरान मारे गये लाखों लोगों का समाचार सुना। उन्होंने श्रीकृष्ण के जीवन के अन्त तथा यदुवंशियों के विनाश के बारे में भी सुना। भाग्य के इस क्रूर और अबोधगम्य खेल से विदुर स्तब्ध रह गये। कुछ समय तक वे गहन-चिन्तन में डूबे रहे। फिर वे सीधे ऋषि मैत्रेय के आश्रम में गये और अपने हृदय का दुःख उन्हें कह सुनाया।

"लोग सुख की खोज में इधर-उधर भटकते रहते हैं; सुखी होने के लिये विभिन्न प्रकार के कार्यों में लगे रहते हैं। सुख पाने हेतु लोग प्राणपण से चेष्टा करते हैं। परन्तु वे न केवल सच्चा स्थायी सुख प्राप्त कर पाने में असफल रहते हैं, अपितु अपने कार्यों से वे आगे चलकर असंख्य कठिनाइयों में फँसते जाते हैं। हे महर्षि ! दुःख के इस दलदल से निकलने का क्या उपाय है? परेशानियों के इस बोझ से पीड़ित लोगों के लिये आपकी क्या सलाह है?" इस प्रश्न को पूछने वाले विदुर कोई साधारण व्यक्ति नहीं थे। वे अपने काल के महानतम चिन्तकों तथा परम ज्ञानियों में एक थे। विदुर के इस प्रश्न का ऋषि मैत्रेय ने क्या उत्तर दिया? क्या उन्होंने विदुर को कुछ प्रभावशाली बड़े लोगों से मिलने की सलाह दी? नहीं। क्या उन्होंने कुछ समाज-सुधार अपनाने को कहा? नहीं। तो क्या उन्होंने उन्हें राजनीति या अर्थशास्त्र पढ़ने का परामर्श दिया। नहीं। उन्होंने इनमें से कोई भी सलाह नहीं दी। ऋषि मैत्रेय ने केवल भगवान की महिमा का वर्णन किया। कहने का तात्पर्य यह है कि उन्होंने जीवन की समस्याओं का एक आध्यात्मिक समाधान ढूँढ़ने का सुझाव दिया।

सच पूछो तो सड़े घावों को सुगन्धित पुष्पों से ढँकने से क्या लाभ? सभी प्रकार के बन्धनों से पूर्ण मुक्ति पाना सहज नहीं है। हमारे मर्त्य देह और मन द्वारा आरोपित सीमाओं से हम त्रस्त रहते हैं। हम अन्य लोगों द्वारा अपने ऊपर डाले जानेवाले प्रभावों से भी पूरी तौर से बच नहीं सकते। प्रकृति के प्रकोप से उत्पन्न दुःखों से हम स्वयं को पूर्णतया मुक्त नहीं कर सकते। यहाँ तक कि जब हमें लगता है कि किसी विशेष स्थिति में हमें कुछ राहत मिल रहा है, तो अन्ततः हम अनुभव करते हैं कि वह केवल अस्थायी या आंशिक राहत ही था। यह राहत सिर के सामान को कन्धे पर रखने के अनुभव के समान ही है। इसलिये सांसारिक राहत या भौतिक समाधान अस्थायी और अपर्याप्त हैं।

तो फिर क्या जीवन की सभी समस्याओं का कोई स्थायी और पूर्ण समाधान है? संसार के सभी महान् धर्मग्रन्थ और अनुभूति-सम्पन्न ऋषियों ने घोषणा की है कि जीवन की समस्याओं का एक आध्यात्मिक समाधान है। महापुरुषों और शास्त्रों के वचनों में श्रद्धा आध्यात्मिक जीवन की आधारशिला है। हमारे पवित्र धर्मशास्त्रों में कहा गया है कि श्रद्धा या दिव्य विश्वास-सम्पन्न व्यक्ति परम ज्ञान प्राप्त करता है। श्रद्धा हमें नैतिक और आध्यात्मिक सद्गुणों को धारण करने हेतु प्रेरित करती है। वह मनुष्य को निम्नतर सुखों और पाशविक प्रवृत्तियों को छोड़ने हेतु प्रेरित करती है, ताकि वह अपने दैनन्दिन जीवन में अपनी अन्तर्निहित दिव्यता को अभिव्यक्त कर सके। ऐसा मनुष्य नैतिक और आध्यात्मिक जीवन के नियमों का ईमानदारी से पालन करता है और पूजा, प्रार्थना, आत्म-विश्लेषण तथा ध्यान आदि के माध्यम से समस्त दुःखों और परेशानियों से मुक्त हो जाता है। ❖ (क्रमशः) ❖

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अंक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें - 'नया सदस्य'।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उससे पहले प्राप्त शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। अंक उपलब्ध होने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ५/- रुपयों का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमारे कार्यालय को न भेजें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

ईसप की नीति-कथाएँ (२९)

(ईसा के ६२० वर्ष पूर्व आविर्भूत ईसप, कहते हैं कि वे पूर्व के किसी देश में जन्मे और यूनान में निवास करनेवाले एक गुलाम थे। उनके नाम पर प्रचलित अनेक कथाओं पर बौद्ध जातको तथा पंचतंत्र आदि मे ग्रथित भारतीय कथाओं की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। इन कथाओं में व्यवहारिक जीवन के अनेक कटु या मधुर सत्यो का निदर्शन मिलता है, अत: ये आबाल-वृद्ध सभी के लिये रोचक तथा उपयोगी हैं। – सं.)

बिल्ली और वीनस देवता

एक बिल्ली का एक सुन्दर युवक से प्रेम हो गया और उसने बुध देवता से प्रार्थना की कि वे उसे एक नारी में परिणत कर दें। वीनस ने उसका अनुरोध मान लिया और उसे एक सुन्दर बालिका में रूपान्तरित कर दिया। युवक ने उसे देखा और उस पर मुग्ध होकर उससे शादी करके उसे घर ले गया। दोनों अपने घर में बैठे आराम कर रहे थे, तभी वीनस देवता के मन में आया कि मैंने बिल्ली को बदल तो दिया है, पर देखूँ उसके स्वभाव में भी अन्तर आया है या नहीं। ऐसा सोचकर वीनस ने कमरे के बीचोबीच एक चूहा छोड़ दिया। बिल्ली अपनी वर्तमान अवस्था को भूल आसन से उठकर चूहे को खाने के लिए उसके पीछे दौड़ पड़ी। वीनस को बड़ी निराशा हुई और उन्होंने उसे पुन: उसका पुराना रूप दे दिया।

ठीक ही कहा है – पुरानी आदतें जल्दी नहीं छूटतीं।

बकरियाँ और उनकी दाढ़ियाँ

बृहस्पति देवता की कृपा से बकरियों को भी दाढ़ी मिल गयी। इस पर बकरे बड़े नाराज हुए और देवता से शिकायत की कि अब मादाएँ भी उनकी बराबरी करने लगी हैं। बृहस्पति बोले, "यदि वे बल और साहस में पुरुषो की बराबरी नही कर सकतीं, तो उन्हें बराबरी के झूठे सम्मान का मजा लेने दो।"

यदि तुम्हारी तुलना में निकृष्ट गुणवाले लोग बाहरी दिखावे में तुम्हारी नकल करें, तो इससे तुम्हें कोई फरक नहीं पड़ता।

ऊँट और अरब

ऊँट हाँकनेवाले एक अरब ने ऊँट की लदाई करने के बाद उससे पूछा कि वह चढ़ाई वाला रास्ता पसन्द करेगा या उतराई वाला। बेचारे ऊँट ने सहज भाव से पूछा, "तुम मुझसे यह बात क्यों पूछ रहे हो? क्या रेगिस्तान से होकर जानेवाला समतल रास्ता बन्द हो गया है?"

सभी अपने जाने-पहचाने रास्ते से ही चलना चाहते हैं।

कौआ और भेंड़

एक दुष्ट कौआ एक भेंड़ की पीठ पर बैठ गया। अनिच्छा के बावजूद भेंड़ काफी देर तक उसे इधर-उधर ढोती रही। आखिरकार तंग आकर वह बोली, "यदि तुमने कुत्ते के साथ ऐसा किया होता, तो उसके नुकीले दाँतों से तुम्हारे प्राण निकल जाते।" कौए ने उत्तर दिया, "मैं दुर्बलों को सताता हूँ और बलवानों के सामने झुक जाता हूँ। मुझे मालूम है कि मैं किसे तंग कर सकता हूँ और किसकी चापलूसी करनी होगी। और इसी प्रकार अपने प्राण बचाते हुए मैं बूढ़ा हो चला हूँ।"

चालाकी का आश्रय लेकर दुर्बलों को सताना ठीक नहीं।

कुत्ता और सीप

एक कुत्ता अण्डे खाने का अभ्यस्त था। एक दिन उसने एक सीप देखा और उसे अण्डा समझकर बड़े आनन्दपूर्वक अपना मुँह खोलकर निगल गया। थोड़ी देर बाद ही उसके पेट में भयानक पीड़ा होने लगी। तब वह सोचने लगा, "मैं भी कैसा मूर्ख था! हर सफेद और गोल चीज कोई अण्डा थोड़े ही होती है।"

जो लोग बिना अच्छी तरह सोच-विचार किए किसी काम में कूद पड़ते हैं, वे प्राय: अप्रत्याशित संकटों में जा पड़ते हैं।

मक्खी और मनुष्य

एक आदमी एक मक्खी से बड़ा परेशान हो गया। उसने बड़ी कोशिश के बाद आखिरकार उसे पकड़ ही लिया और बोला, "तुमने मुझे क्यों काटा? फिर तुम्हें पकड़ने में मुझे इतनी मेहनत करनी पड़ी। मैं तुम्हें जिन्दा नहीं छोड़ूँगा।" मक्खी ने उत्तर दिया, "मेरा जैसा छोटा-सा प्राणी भला आपका कितना नुकसान कर सकता है। इसलिए कृपा करके मेरी जान बख्स दीजिए। मनुष्य हँसते हुए बोला, "तुम्हें निश्चित रूप से मेरे हाथों मरना होगा, क्योंकि बुराई छोटी हो या बड़ी, उसकी सजा तो होनी ही चाहिए।"

चोर और मुर्गा

कुछ चोरों ने जब सेंध लगाकर एक घर में प्रवेश किया, तो वहाँ पर उन्हें एक मुर्गे के सिवा और कुछ नहीं मिला। वे उसी को चुराकर जितनी तेजी से बन पड़ा चलते बने। घर पहुँचने के बाद वे मुर्गे को काटने की तैयारी करने लगे। जान पर आ बनी देखकर मुर्गे ने अपने प्राणों की भिक्षा माँगते हुए कहा, "देखिए, मैं मनुष्यों के लिए बड़ा उपयोगी हूँ, इसलिए मेरी जान मत लीजिए। मै उन्हें काम पर जाने के लिए रात में ही जगा देता हूँ।" चोरों ने कहा, "इसी कारण तो तुम्हें मारना और भी जरूरी है, क्योंकि तुम्हारे चिल्लाकर अपने पड़ोसियों को जगाते ही हमारा धन्धा पूरी तौर से बन्द हो जाता है।"

बुरा अभिप्राय रखनेवाले अच्छे गुणों से घृणा करते हैं।

कुत्ता और रसोइया

एक धनी आदमी ने एक जोरदार दावत दी, जिसमें उसने अपने अनेक मित्रों तथा परिचितों को आमंत्रित किया। उसके कुत्ते ने भी मौका देखकर अपने दोस्त एक अजनबी कुत्ते को आमंत्रित करते हुए कहा, "मेरा मालिक आज दावत दे रहा है और हर दावत के बाद बहुत-सा खाना बच रहता है, इसलिए आज रात तुम आकर मेरे साथ भोजन करना।" निमंत्रण पाकर वह कुत्ता निर्धारित समय पर वहाँ जा पहुँचा और वहाँ इतना भव्य आयोजन देखकर अपना भाग्य मनाते हुए वह मन ही मन कहने लगा, "मैं यहाँ आकर कितना खुश हूँ, क्योंकि ऐसा मौका मुझे बार बार नहीं मिलता। आज तो मैं इतना खा लूँगा कि कल भी मुझे खाने की जरूरत न पड़े।" इस प्रकार जब वह अपनी पूँछ हिलाते हुए अपने मित्र के प्रति आनन्द प्रदर्शित करते हुए अपना भाग्य मना रहा था, तभी रसोइये ने उसे खाने-पीने की चीजों के बीच घूमते हुए देख लिया और उसकी गरदन पकड़कर बिना कुछ सोचे-बिचारे उठाकर खिड़की के बाहर फेंक दिया। वह बड़े जोरों से जाकर बाहर फर्श पर गिरा और जोर जोर से आवाज में चिल्लाते और लँगड़ाते हुए चला गया। उसकी चिल्लाहट सुनकर गली के दूसरे कुत्ते भी इकट्ठे हो गये और उससे पूछने लगे कि उसने दावत का कैसा लुत्फ उठाया? उसने उत्तर दिया, "सच कहूँ तो मैंने इतनो शराब पी कि मुझे कुछ भी याद तक नहीं है। मैं तो यह भी नहीं जानता कि मैं घर से बाहर कैसे आया।"

सिंह, बृहस्पति और हाथी

सिंह ने बारम्बार शिकायत करके बृहस्पति देवता को तंग कर डाला। वह कहता, "हे बृहस्पति, यह सच है कि मेरा बल अदम्य है, रूप सुन्दर है और आक्रमण सशक्त है। मेरे जबड़े तथा दाँत मजबूत हैं और पाँवों में नखयुक्त पंजे हैं और मैं जंगल के सारे जानवरों पर शासन करता हूँ। परन्तु यह कितने शर्म की बात है कि इतना बलवान होकर भी मैं एक मुर्गे की आवाज से डर जाता हूँ।" बृहस्पति ने कहा, "इसके लिए तुम बेकार ही मुझे क्यों दोष दे रहे हो? मेरे पास जो गुण हैं, वे सभी मैंने तुम्हें दे दिये हैं और केवल इस एक मामले को छोड़ तुम्हारा साहस कभी साथ नहीं छोड़ता।" यह सुनकर सिंह बड़ा अफसोस जाहिर करने लगा और अपनी कायरता के लिए स्वयं को लानत देते हुए मरने की ख्वाहिश करने लगा।

जब उसके मन में ऐसे ही विचार उमड़ रहे थे, तभी उसकी एक हाथी से भेंट हो गयी और वह उससे बातें करने के लिए उसके निकट जा पहुँचा। थोड़ी देर बाद उसने पाया कि हाथी बार बार अपने कानों को हिलाता है। उसने पूछा कि क्या बात है, क्यों बीच बीच में उसके कान हिल रहे हैं? उसी समय एक मच्छर हाथी के सिर पर आ बैठा था। उसने उत्तर दिया, "इस भनभनाते हुए छोटे-से कीड़े को देख रहे हो न? यदि यह मेरे कान में घुस गया, तो समझ लो कि मेरी मौत आ गयी।" सिंह बोला, "चूँकि जब इतना बड़ा जानवर एक छोटे-से मच्छर से डरता है, तो फिर मैं शिकायत या मरने की इच्छा नहीं करूँगा। अब मैं अपनी वर्तमान अवस्था में भी स्वयं को हाथी से अच्छी अवस्था में पाता हूँ।"

इस दुनिया में कोई जीव चाहे वह कितना भी बलवान क्यों न हो, पूरी तौर से निरापद नहीं है।

मेमना और भेड़िया

एक भेड़िया एक मेमने का शिकार करने को उसके पीछे लगा था। जान बचाने को मेमना एक मन्दिर में घुस गया। भेड़िये ने उसे पुकार कर कहा, "यदि तुम पुजारी के हाथ लग गये, तो वह तुम्हारी बलि चढ़ा देगा।" इस पर मेमने ने उत्तर दिया, "तुम्हारे पंजों में पड़कर खाये जाने की अपेक्षा मन्दिर में बलिदान होना मेरे लिए कहीं ज्यादा अच्छा होगा।"

धनाढ्य व्यक्ति और चर्मकार

एक चमड़ा कमानेवाला व्यक्ति एक धनाढ्य व्यक्ति के घर के पास आकर बस गया था। चर्मशाले की उग्र दुर्गन्ध को असह्य पाकर उसने अपने पड़ोसी को अन्यत्र चले जाने का अनुरोध किया। चर्मकार ने उससे बारम्बार वादा किया कि वह शीघ्र ही चला जायेगा, परन्तु वह गया नहीं। धनी व्यक्ति धीरे धीरे चमड़े की दुर्गन्ध का आदी हो गया और इसके बाद उसे इससे कोई असुविधा नहीं होती थी, अत: उसने चर्मकार से शिकायत करना भी बन्द कर दिया।

धीरे धीरे हम अपनी परिस्थितियों के साथ समायोजन करना सीख ही जाते हैं।

दुर्घटनाग्रस्त जहाज का यात्री और समुद्र

जहाज के दुर्घटनाग्रस्त हो जाने पर एक व्यक्ति बहता हुआ समुद्र के किनारे जा लगा और लहरों के आघात से थक जाने के कारण वहीं निद्रित हो गया। थोड़ी देर बाद जागकर उसने समुद्र की ओर देखा और उसे खरी-खोटी सुनाने लगा। वह बोला, "तुम अपने जल की स्थिरता का प्रदर्शन करके लोगों को आकृष्ट करते हो और जब वे यात्रा पर निकलते हैं, तो तुम अशान्त होकर उन्हें बरबाद कर डालते हो।" अपनी निन्दा सुनकर समुद्र नररूप धारण कर प्रकट हुआ और बोला, "मेरे मित्र, मुझे नहीं, वायु को दोष दो, क्योंकि मैं तो अपने स्वभाव से पृथ्वी के समान शान्त तथा स्थिर हूँ, परन्तु वायु अचानक ही मुझ पर आ गिरता है और बारम्बार मुझसे टकराते हुए तरंगें उत्पन्न करके मुझे अशान्त कर देता है।"

कोई भी अपना दोष नहीं स्वीकारता। ❖ (क्रमश:) ❖

बाबा रघुनाथदास की अद्भुत गाथा

स्वामी विदेहात्मानन्द

❖ (पिछले अंक का शेषांश) ❖

अकाल-राहत – संवत् १९३४ (१८७७ ई.) में वहाँ (अयोध्या में) भयंकर अकाल पड़ा। जनता अन्नाभाव से हाहाकार करने लगी। अनेक गृहस्थ, संन्यासी, उदासी, वैरागी लोगों ने आकर बाबा की छावनी में आश्रय ग्रहण किया। बाबा ने सबको भोजन कराने की आज्ञा दी और वहाँ प्रतिदिन हजारों लोग भोजन पाने लगे।

एक दिन फैजाबाद से रामदास नाम का एक व्यापारी आया और बाबा के चरणों में गिरकर कृपा की प्रार्थना की। बाबा ने कहा – तू यहाँ से रुपये ले जा और प्रतिदिन अन्न खरीदकर यहाँ भेज दिया कर; इससे तेरा दुःख-दारिद्र्य दूर हो जायेगा। इतना कहकर बाबा ने उसे हजारों रुपये दिला दिये। महाराज का आदेश पालन करने से उसका व्यवसाय चमक उठा और वह फैजाबाद का सबसे बड़ा आढ़तिया बन गया।

महाराज ने भण्डारी को बुलाकर कहा कि इस अकाल के समय कोई भूखा न रहने पाये, दोपहर बारह बजे तक सबको भोजन करा देना। भण्डारी ने उनकी आज्ञा शिरोधार्य की। उन्होंने कोठारी किशुनदास को बुलाकर आदेश दिया – छावनी में किसी को भी कोई कष्ट न हो। आटा, दाल, चावल, घी, नमक – कोई कुछ भी माँगे, देते जाना। कोठार में किसी चीज की कमी हो तो पहले से ही सूचना देते रहना, ताकि कोई वंचित न रह जाय। कोठारी भी आज्ञानुसार कार्य करने लगे।

कोठारी किशुनदास को लगा कि बाबा की फिर से परीक्षा लेने का यही मौका है। वे फैजाबाद जाकर रामदास महाजन से बोले – "देखो, मैं तुम्हें हित की बात कहने आया हूँ और किसी से मत कहना। तुम तो देख ही रहे हो कि समय काफी बुरा चल रहा है। अतः बाबाजी को ज्यादा कर्ज मत दो। अन्यथा समय पर यदि रुपये नहीं मिले तो क्या करोगे।" रामदास उनकी बातों में आ गया।

किशुनदास छावनी में लौट आये। इधर कोठार में खर्च बहुत अधिक हो जाने पर उन्होंने जाकर बाबाजी को बताया कि कोठार में अनाज कम है और महाजन रामदास कहता है कि पुराना हिसाब चुकता करो तभी मैं और सामग्री दे सकूँगा। महाराज ने रुपये भेजकर उसका हिसाब चुका दिया। पर उनके मन में आया कि धन के लिए अब सेठ-साहुकारों का भरोसा छोड़कर श्री सीताराम जी पर ही निर्भर रहना उचित होगा।

ऐसा संकल्प करने के बाद बाबा मौन धारण करके भजन करने लगे। इधर दोपहर हो जाने पर भी भण्डार खाली ही रहा तो भूखे दीन-दुखी लोग भोजन के लिये चिल्लाने लगे। शाम को एक शिष्य महाराज के लिये खीर बनाकर ले गये, परन्तु वे बोले कि भूखे अतिथियों को खिलाये बिना मैं कुछ भी ग्रहण नहीं कर सकता। अपने ध्यान के द्वारा उन्हें किशुनदास जी की करनी ज्ञात हो गयी थी, परन्तु वे बोले कुछ भी नहीं। ऐसे ही आधी रात बीत जाने पर सब भूखे ही सो गये। तभी लक्ष्मीजी एक दिव्य नारी के रूप में प्रकट हुईं और उनकी गद्दी के पास दो थैलियाँ रखकर अन्तर्धान हो गईं। महाराज ने नेत्र खोले और तत्काल किशुनदास को बुला भेजा। किशुनदास वहीं थे। बाबाजी की आज्ञा पाकर उन्होंने थैलियाँ खोलीं, देखा कि उनमें हजार हजार स्वर्ण-मुद्राएँ भरी हुई थीं।

अब किशुनदास को भय हुआ। उन्हें लगा कि बाबाजी की परीक्षा लेने के प्रयास में मुझसे बड़ा अपराध हो गया है महाराज बड़े दयालु हैं, जो सब कुछ जानकर भी शान्त बैठे हैं। वे बाबा के चरणों पर गिरकर गिड़गिड़ाते हुए क्षमा माँगने लगे। बाबाजी ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा – जाओ, पहले रामदास के बाकी रुपये चुकाकर भण्डारे की व्यवस्था करो। किशुनदास तत्काल फैजाबाद की ओर दौड़ पड़े। वहाँ सारी बातें सुनने के बाद रामदास महाजन भी भय से काँपने लगे कि मेरे कारण ही साधु-भिक्षुकों को दिन भर भूखे रहना पड़ा। किशुनदास उन्हें ढाढ़स बँधाकर लौट आये और तरह तरह के पकवान बनवाकर सबको भरपेट भोजन कराया।

कुछ दिनों बाद पूरनदास जी के बद्रीनाथ की यात्रा से लौट आने पर किशुनदास ने उन्हें कोठारी का भार सौंप दिया। इसके बाद वे जाकर बाबाजी के चरणों पर गिर पड़े और हाथ जोड़कर कुछ प्रश्नों के उत्तर देने का अनुरोध किया। प्रश्नों को सुनकर बाबाजी अत्यन्त प्रसन्न हुए और उनका उत्तर देते हुए बोले –

प्रश्न १ – संसार-बन्धन के बीच कौन रहता है?

उत्तर – शोक-मोह-दुःख-सुख आदि मायाकृत विकार हैं, इन्हें स्वप्नवत् समझना चाहिये। माया के दो रूप हैं – विद्या और अविद्या। जीव ईश्वर का अंश और अविनाशी है। वह स्वभाववश बन्धन तथा मोक्ष का अनुभव करता है। मानव-तन में जीव और परमात्मा दोनों हैं, जो विवेक के द्वारा पहचान में आ सकते हैं। मानो एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं। उनमें से एक फल चखता है और दूसरा साक्षी रहता है, वैसे ही जीव कर्म के विधानानुसार सुख-दुःख का अनुभव करता है, परन्तु उसी के समीप साक्षीभाव से रहनेवाला परमात्मा इनसे मुक्त

रहता है। अविद्या के चंगुल में फँसा जीव ही बन्धन में है।

प्रश्न २ – मुक्त कौन है?

उत्तर – विद्या का आश्रय लेकर अविद्या को त्यागने वाला ही मुक्त जीव है।

प्रश्न ३ – भक्त या वैष्णव के क्या लक्षण हैं?

उत्तर – सन्तों की कृपा से ही भक्ति की शीघ्र उपलब्धि हो सकती है। भक्ति की शक्ति से मनुष्य भवसागर से पार उतरने में समर्थ हो जाता है। भक्ति होने पर मनुष्य सन्तों की संगति में लग जाता है, उसकी रामकथा में रुचि उत्पन्न हो जाती है, नाम-जप में रुचि आ जाती है।

वैष्णव का प्रगुख लक्षण है – संसार में समस्त कर्मों को प्रभु के चरणों में अर्पित कर उन्हीं की शरण लेना।

प्रश्न ४ – संसार में रहने का सुगम मार्ग कौन-सा है?

उत्तर – मन-वाणी तथा कर्म से प्रभु के नाम का स्मरण तथा ध्यान करना ही इस कलियुग के लिये सबसे सुगम तथा प्रमुख मार्ग है। इस पर चलकर जीव शीघ्र ही मुक्ति का अधिकारी बन जाता है।

महाराज के सुन्दर उपदेश सुनकर किशुनदास का सारा सन्देह दूर हो गया और वे एक सच्चे साधु बन गये।

सेठानी का दान – दक्षिण भारत के किसी नगर से एक वृद्धा सेठानी अयोध्या आयीं। सरयू में स्नान करने के बाद वे सच्चे सन्त की खोज में निकली। उन्होंने फटे-पुराने कपड़े पहन रखे थे। हाथ में एक ताँबे की लुटिया लिये हुए वे कई मठों तथा आश्रमों में गयीं और बोलीं की मेरे पास यह लुटिया भर है। इसी से मैं अयोध्या के सारे साधुओं का भण्डारा कराना चाहती हूँ। लोग उनकी बात पर हँसी उड़ाते और कहीं कहीं तो उन्हें पागल समझकर भगा दिया जाता। आखिरकार वे बाबाजी की बड़ी छावनी में आ पहुँचीं।

बाबाजी के चरणों में प्रणाम करने के बाद उन्होंने अपनी ताँबे की लुटिया दिखाकर उनसे समष्टि भण्डारा कराने का अनुरोध किया। बाबाजी ने तत्काल भण्डारी को बुलाकर आदेश दिया कि कल सारे अयोध्यावासी साधुओं के भण्डारे का आयोजन करो और इस ताँबे की लुटिया को बेचकर हींग खरीद लाना। उस हींग को साग में मिलाकर इस बूढ़ी-माँ के नाम पर भण्डारा कर दो। अगले दिन भव्य भण्डारे में वृद्धा सेठानी की जय भी बुलवा दी गयी।

भण्डारे के बाद वे वृद्धा गयीं और अपने फटे-पुराने कपड़े बदलकर एक दासी के साथ लौट आयीं। उन्होंने बाबाजी के चरणों में २० हजार रुपये चढ़ाये। महाराज ने रुपये कोठार में भिजवा दिये और तीन दिनों तक भण्डारा चलाने का आदेश दिया। वृद्धा सेठानी कृतार्थ होकर अपने देश लौट गयीं।

सरयू से भूमि माँगना – बाबाजी के पास आनेवालों की भीड़ क्रमशः बढ़ती ही जा रही थी। लोगों के निवास आदि के लिये जगह की कमी महसूस होने लगी। बाबाजी ने विचार किया कि यदि सरयूजी स्वयं हटकर भूमि दे दें, तो बड़ा अच्छा होगा। वे थोड़ी देर तक श्री सीताराम का ध्यान करते रहे और तदुपरान्त उन्होंने ईख के रस तथा दूध से भरे घड़े मँगवाये। इसके बाद वे सरयूजी के तट पर जाकर बड़े प्रेम के साथ उन्हें चढ़ाते हुए स्तुति तथा प्रार्थना करने लगे। उसके उपरान्त बाबाजी अपने पर्णकुटीर में लौट आये।

सरयूमाता प्रसन्न हुयीं। रात में वे दक्षिणी किनारा छोड़कर उत्तर की ओर बढ़ने लगीं। सुबह तक लगभग दो मील स्थान खाली हो गया। यह चमत्कार देखकर साधु-मण्डली हर्षित और विस्मित हो गयी और नये उत्साह के साथ राम-नाम के कीर्तन-भजन में लग गयी।

गोंडा-नरेश का आगमन – एक बार गोंडा के राजा श्रीमान कृष्णदत्त अपनी पत्नी के साथ बाबाजी के दर्शन करने आये। उनके द्वारा चरणों में प्रणाम करने के बाद बाबाजी ने उन्हें आशीर्वाद दिया और निकट बिठाकर कुशल-क्षेम पूछने लगे। राजा ने देखा कि बड़ी छावनी की सारी कुटियाएँ तृण-पत्तो से बनी हुई हैं, अतः उन्होंने प्रस्ताव दिया कि वे अपने खर्च से पक्का मन्दिर, भण्डार, कोठार तथा साधु-महात्माओं के लिये अलग अलग कमरे बनवाना चाहेंगे। बाबाजी को उनका प्रस्ताव जँच गया और उन्होंने हामी भर दी।

महाराजा ने तत्काल हजारों रुपयों से भरी थैलियाँ मँगवाकर उनके चरणों में रख दिये। ज्योतिषियो को बुलवाकर मन्दिर के शिलान्यास के लिये शुभ मुहुर्त निकाला गया। उक्त शुभ मुहुर्त पर पुनः उपस्थित होने का वचन देकर नरेश लौट गये।

बाबाजी ने सोचा कि मेरी प्रार्थना पर ही सरयू मैया ने यह जगह दी है, सम्भव है कि मेरे न रहने पर वे इसे वापस ले लें। अतः मन्दिर में लगाया गया सारा धन व्यर्थ ही चला जायेगा। क्यों न राजा के नाम पर एक ऐसे मन्दिर की नींव रखी जाय, जो लोक-परलोक दोनों में सुशोभित हो! बाबाजी ने कोठारी को बुलवाकर आदेश दिया – गोंडानरेश द्वारा प्रदत्त धन से भोजन की सामग्री मँगाओ और साधु-सन्तों तथा भक्तों को जी भर खिलाने की व्यवस्था करो। आदेश पाते ही वे लोग बाजार जाकर गाड़ी भर खाने-पीने का सामान ले आये।

इधर बाबाजी का सन्देश पाकर राजा-रानी दल-बल के साथ छावनी में आ पहुँचे। वहाँ साधु-सन्तों की भीड़ लगी हुई थी। पकवान आदि बनकर तैयार थे। सबके एक विशाल पंगत में बैठ जाने के बाद बाबाजी ने महाराजा को बुलाकर कहा – "चलो, आज बड़ा शुभ दिन-मुहुर्त है। अपने हाथ से पक्की नींव डालकर कृतार्थ हो जाओ।" राज-दम्पति बाबाजी

के पीछे पीछे वहाँ जा पहुँचे। सन्त-समाज भोजन करने को आसीन था। भण्डारा शुरू हो जाने के बाद बाबाजी ने राजा से कहा – "देखो, सन्तों का पेट ही परम पावन भूमि है। उनका हृदय पाताल और पकवान गारा-चूना है। इससे मन्दिर की नींव बड़ी मजबूत पड़ेगी। यह सुदृढ़ मन्दिर बिना टूटे-फूटे महाप्रलय तक स्थिर रहेगा, चिरकाल तक सुशोभित रहेगा।"

सन्तों का भोजन हो जाने के बाद राजा ने पुन: करबद्ध प्रार्थना की कि मन्दिर भी बनवा लिया जाय तो बड़ा अच्छा हो। बाबाजी ने ईंट-गारे का मन्दिर बनवाने से मना कर दिया। राजा को भी यह बात खूब जँच गयी। उन्होंने बाबाजी से लगातार सात दिनों तक भण्डारा कराने का अनुरोध किया। महाराज की स्वीकृति से अयोध्या का सारा सन्त-समाज सात दिनों तक वहीं रहकर नाम-संकीर्तन करता रहा। भण्डारे में हजारों रुपये व्यय हुए। इसके उपरान्त महाराज से हरि-चरणों में भक्ति की आशीर्वाद लेकर राज-दम्पत्ति लौट गये।

हरिदासजी द्वारा परीक्षा – जाड़े का मौसम था। कड़ाके की ठण्ड पड़ने लग गयी थी। बाबाजी ने सैकड़ों कम्बल मँगवाकर साधुओं में बँटवाया और धूनी का उत्तम प्रबन्ध कराया। उस समय साधुओं की एक जमात आकर आश्रम में ठहरी हुई थी। महाराज ने एक दिन टोली के प्रमुख श्री हरिदासजी से कहा, "आज मैं आपकी इच्छानुसार भोजन कराना चाहता हूँ।" हरिदासजी बोले, "जब आपकी ऐसी कृपा है, तो चीनी और खरबूजों के भोग लगें और साथ में मालपुए भी रहें तो बड़ा अच्छा होगा।"

उपस्थित लोगों ने सोचा कि इस जाड़े के मौसम और पौष के महीने में भला खरबूजे कहाँ मिलेंगे ! हो-न-हो हरिदासजी ने बाबाजी की परीक्षा लेने के निमित्त ही ऐसा कहा है। बाबाजी भी सब समझ गये। उन्होंने अधिकारी को बुलवाकर मालपुए छनवाने का आदेश दिया और स्वयं श्री सीताराम की युगलमूर्ति के ध्यान में डूब गये।

चार घण्टे बाद कुछ मल्लाह लोग खरबूजे लिये हुए वहाँ आ पहुँचे। बाबाजी ने नेत्र खोले। मल्लाहों ने हाथ जोड़कर कहा, "महाराज, हम लोगों ने अनायास ही आश्विन के महीने में खरबूजे के बीज बो दिये थे। प्रभु की महिमा से उनमें फल लग आये हैं। बेमौसम का फल होने के कारण हमने सोचा कि इन्हें आपकी सेवा में पहुँचा दें।"

बाबाजी ने इसे श्री राघवेन्द्र की दया समझा और मल्लाहों को आशीर्वाद देकर विदा किया। इसके बाद हरिदासजी तथा अन्य सन्तों को बुलाकर उन्होंने कहा, "कृपासिन्धु श्रीराम ने ये खरबूज भेजे हैं, आप लोग आनन्दपूर्वक चीनी के साथ इन्हें पाइये।" आहार के बाद हरिदासजी ने बाबाजी के पास जाकर कहा, "मार्ग में हमने सुना कि आप सन्तों को उनकी इच्छा के अनुसार भोजन कराते हैं। इसी बात की परीक्षा लेने के लिये हमने असमय ये फल माँगे थे। आप कृपा करके हमारी इस धृष्टता को क्षमा करें और हमें प्रयाग की ओर जाने की अनुमति दें।" बाबाजी ने सन्तों को बहुत से रुपये, कपड़े तथा बर्तन आदि देकर विदा किया। महात्माओं की टोली प्रेमपूर्वक दण्डवत करके 'सन्त-शिरोमणि रघुनाथदास जी की जय' बोलती हुई अपने पथ पर चल पड़ी। इस प्रकार बाबाजी की ख्याति दूर दूर तक फैलने लगी।

कवि पर कृपा – वहाँ के एक कबि बड़े रामभक्त तथा सत्संगी थे। एक दिन वे संध्या के समय आये। बाबाजी ने उन्हें आदरपूर्वक बैठाया। रामधुन के उपरान्त कविराज ने प्रेमरस से परिपूर्ण कविताएँ सुनाईं। सब लोग बड़े प्रसन्न हुए। आनन्द का वातावरण छा गया। बाबाजी ने उनसे 'रामचरित-मानस' सुनाने का अनुरोध किया। कई घण्टे कथा होने के बाद कविराज ने चलने की आज्ञा माँगी। बाबाजी ने उनके गले में एक बड़ी सुन्दर सोने की माला पहना दी और वस्त्र आदि देने के बाद कुछ दूर तक साथ जाकर उन्हें विदा किया। इस प्रकार वे समुचित सत्कार करके ही हर व्यक्ति को विदा करते। 'मानस' पर तो उनका इतना अनुराग था कि जो कोई आकर उन्हें रामायण सुनाता उस पर अतिशीघ्र उनकी कृपा हो जाती।

ऊर्ध्वबाहु महात्मा – एक दिन एक ऐसे महात्मा बाबाजी के पास आये, जो सर्वदा अपने हाथ उठाये रहते थे। उनके साथ कुछ शिष्य भी थे। बाबाजी को प्रणाम करने के बाद उन्हें बैठने को आसन दिया गया। हाथ उठाये रखने का कारण पूछने पर महात्मा ने बताया, "इस कलिकाल में काया को कष्ट दिये बिना प्रभु नहीं मिलते। उन्हों को प्रसन्न करने हेतु मैं इस प्रकार कष्ट उठा रहा हूँ।"

बाबाजी बोले, "प्रेम से तो प्रभु शीघ्र ही प्रसन्न हो जाते हैं। इसके लिये शरीर को पीड़ा देने की कोई जरूरत नहीं।" ऊर्ध्वबाहु जी बोले, "सो तो ठीक है, परन्तु प्रेम की महिमा में विश्वास कैसे होगा?" बाबाजी ने कहा, "प्रभु प्रेम के प्रताप से तुम्हारे दोनों हाथ नीचे उतर आयेंगे।" ऊर्ध्वबाहु जी बोले, "महाराज, अब तो दस वर्ष हो गये। कन्धे के चारों ओर मांस तथा रक्त जम गया है, अत: अब ये कैसे भी नीचे नहीं उतर सकते। हाँ, आपके प्रेम-प्रताप से यदि इन्हें उतारा जा सके, तो कृपया शीघ्र ही मुझे इस कष्ट से मुक्ति दिलाइये।"

बाबाजी ने कहा, "ठीक है" और वे आँखें मूँदकर प्रभु के ध्यान में मग्न हो गये। थोड़ी देर बाद उन्होंने आँखें खोलीं और प्रभु का गुण-गान करते हुए बोले, "हे तात ! अब आप अपने हाथों को नीचे कर लें। सर्वेश्वर की आज्ञा को धारण कर प्रेम में गद्‌गद हो जायँ।" ऊर्ध्वबाहु महात्मा ने अपने हाथों को नीचे झुकाया और दोनों हाथ अपनी पुरानी दशा में आ गये और पूर्व

की ही भाँति सुडौल हो गये। उपस्थित लोग बाबा रघुनाथदास जी की जय-जय-कार करने लगे। ऊर्ध्वबाहु महात्मा उनके चरणों में गिरकर 'धन्य धन्य' कहने के बाद विनीत स्वर में बोले, "हे नाथ, आज मैं धन्य हो गया। आपने मुझे अज्ञान अन्धकार से प्रकाश में ला दिया।" बाबाजी के मुखारविन्द से प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का ज्ञानोपदेश सुनकर उनके सारे संशय छिन्न-भिन्न हो गये और वे महाराज के चरणों में सिर नवाकर अपने स्थान को पधारे।

पौष शुक्ला दशमी को बाबाजी गोलोक पधारे। तभी से प्रति वर्ष उस दिन उनके नाम पर एक बृहत् भण्डारा होता है।

बाबाजी के कुछ उपदेश निम्नलिखित हैं –

रामनाम का प्रभाव

गज की चलन को काह जानै खर कूकर औ,
भोगी काह जानै योगसुख रङ्क राय को ।।१।।
गोमल के जीव काह जानै बास पङ्कज को,
दासी काह जानै पतिव्रता केरे भाव को ।।२।।
कूप केरे दादूर काह जानै गति सागर की,
नरकी स्वर्ग काग हंस के स्वभाव को ।।३।।
जन रघुनाथ ऐसे मूढ़ नर क्रूर जौन,
तौन काह जानै रामनाम के प्रभाव को ।।४।।

– जैसे हाथी की चाल को गधे और कुत्ते नहीं जानते, जैसे भोगी योग के तथा अकिंचन राजा के सुख को नहीं जानते, जैसे गोबर में रहनेवाले कीड़े कमल के गन्ध को नहीं समझते, जैसे दासी पतिव्रता-स्त्री के भाव को नहीं समझती, जैसे कुएँ का मेढ़क समुद्र की खबर नहीं जानता, जैसे नरकवासी स्वर्ग-सुख को और कौआ हंस के स्वभाव को नहीं जानता, 'रघुनाथदास' कहते हैं कि वैसे ही मूढ़ तथा क्रूर लोग रामनाम के प्रभाव को नहीं जान पाते।

अनित्य संसार में भजन करो

जैसे घन बीच है कै बिजुली निसरि जात,
तैसे ही जगत बीच एक दिन बासा है ।।१।।
माया मोह मानुष की देह में लिपट रहे,
छूट गई देह कहौ काहे केरि आसा है ।।२।।
तूं तौ चित चेत हरिनाम क्यों न भज लेत,
जौं लौ तेरे घट बीच बचत खुलासा है ।।३।।
रघुनाथ तजि आसा यहाँ, वासा क्षण एक नहीं,
पानी को बतासा जैसे तन को तमासा है ।।४।।

– जैसे बादलों में बिजली क्षण भर चमककर चली जाती है, वैसे ही इस संसार में जीव का निवास क्षणिक है; माया, मोह आदि मनुष्य के शरीर से लिपटे हुए हैं, परन्तु जब शरीर ही छूट जाता है, तो फिर किसकी आस की जाय; हे चित्त, जब तक तेरे शरीर में आयु शेष है, तब तक अब भी सावधान होकर तू क्यों नहीं हरिनाम का भजन कर लेता है; 'रघुनाथदास' कहते हैं कि बतासे पर पानी पड़ने के समान यह शरीर नश्वर है, इसमें निवास क्षण भर का भी नहीं है, अत: इस देह की आशा तू छोड़ दे।

सन्त कहीं भी तन त्यागे

चाहै सन्त त्यागें तन नीच जन गृह बीच,
चाहै सन्त त्यागें तन बन हाट बाट में ।।१।।
चाहै सन्त त्यागें प्राण करि क्षण बीच,
चाहै सन्त त्यागें तन परे परे खाट में ।।२।।
चाहै सन्त त्यागें तन देश औ बिदेश बीच,
चाहै सन्त त्यागें तन सुरसरि घाट में ।।३।।
रघुनाथ लिन्हें सीतानाथ हाथ कीन्हें चीन्हें,
मुक्ति फेरे अङ्क लिखे बाँधे है ललाट में ।।४।।

– सन्त चाहे नीच जनों के घर में देहत्याग करें, या वन में, बाजार में, या सड़क पर; सन्त चाहे क्षण भर में देहत्याग कर दें या बहुत दिनों तक शय्याशायी होने के बाद; सन्त चाहे देश-विदेश में देहत्याग करें या फिर गंगाजी के तट पर; 'रघुनाथदास' कहते हैं कि श्री सीतानाथ ने जिन लोगों के ललाट पर अपने हाथ से चिह्न लगा दिया है, मुक्ति स्वयं ही उनके पीछे पीछे दौड़ती फिरती है। ❏❏❏
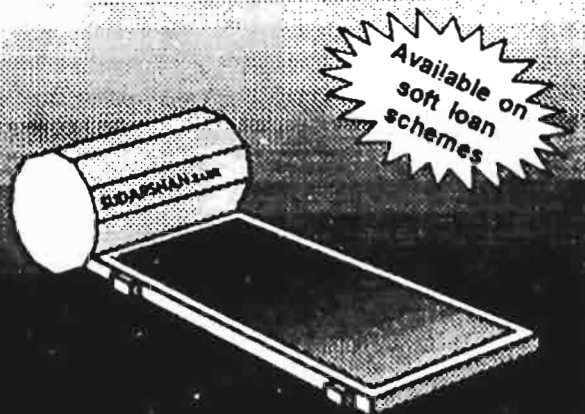
गीता की शक्ति और मोहकता (१)

स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज (परमाध्यक्ष, रामकृष्ण मठ तथा मिशन)

(अद्वैत आश्रम, मायावती से प्रकाशित होनेवाली प्रस्तुत लेखमाला के दो भाग हैं – 'गीता-अध्ययन की भूमिका' जीवन के विभिन्न प्रकार के कार्यों में व्यस्त जगत् के विचारशील लोगों का गीता से परिचय कराने हेतु है और दूसरा भाग 'गीता की शक्ति तथा मोहकता' इस महान् ग्रन्थ पर दिये गये एक उद्‌बोधक व्याख्यान का अनुलिखन है। इन अंग्रेजी व्याख्यानों का हिन्दी अनुवाद हम क्रमशः प्रकाशित करेंगे। – सं.)

भारत ने गीता को गलत समझा

आज शाम हम लोग भगवद्-गीता का अध्ययन आरम्भ करेंगे। इसके प्रारम्भ के तीन अध्याय योग के दर्शन तथा अध्यात्म के केन्द्रीय विषय-वस्तु को प्रस्तुत करते हैं, जिनका श्रीकृष्ण ने चौथे अध्याय के आरम्भ में उल्लेख किया है। बाकी के चौदह अध्यायों में इसी दर्शन को और भी समृद्ध किया गया है। परन्तु मूल सन्देश का सार दूसरे तथा तीसरे अध्याय में बता दिया गया है। यह एक ऐसी पुस्तक है, जो सभी नर-नारियों में निहित शाश्वत आध्यात्मिक तत्त्व की प्राप्ति में और इसके साथ ही उन मानवीय लक्ष्यों को भी समझने में सहायता करती है, जिनके बारे में हमारे संविधान में लिखा गया है तथा जिन्हें आधुनिक युग का मानव ढूँढ़ रहा है। यही कारण है कि गीता का यह सन्देश आज विश्व के विभिन्न भागों में फैल रहा है। जहाँ तक हमारा सवाल है, इस आधुनिक युग में हमें इसके अध्ययन में पारम्परिक पद्धति से भिन्न दृष्टिकोण के साथ अग्रसर होना है। भूतकाल में लोग प्रायः एक धार्मिक कार्य के रूप में या थोड़ी मानसिक शान्ति पाने के लिए गीता का पाठ किया करते थे। परन्तु यह एक परम व्यावहारिक पुस्तक है, इस बात का उन्हें कभी बोध नहीं हुआ और साथ ही इस बात का भी कि पूर्ण विकसित मनुष्यों का एक समाज गठन करने में हमारी सहायता कर पानेवाला यह व्यावहारिक वेदान्त का सबसे महान् ग्रन्थ है। गीता की शिक्षाओं का व्यावहारिक उपयोग हमने कभी नहीं समझा। यदि हमने ऐसा किया होता, तो हमें हजार वर्ष का विदेशी आक्रमण, आन्तरिक जाति-संघर्ष, सामन्तवादी अत्याचार तथा राष्ट्रव्यापी निर्धनता नहीं देखने पड़ते। हमने गीता को कभी गम्भीरता से नहीं लिया; परन्तु अब ऐसा ही करना होगा।

हमें एक ऐसे दर्शन की आवश्यकता है, जो मानवीय स्वाभिमान, स्वाधीनता तथा समानता पर आधारित एक नये कल्याणकारी समाज के गठन में हमारी सहायता कर सके। आधुनिक भारत में हमने यही उद्देश्य अपने सामने रखा है तथा यही विश्व के सभी लोगों को प्रेरित भी कर रहा है; और गीता में एक ऐसा दर्शन उपलब्ध है, जो लोगों के मन तथा हृदय को इसी दिशा में प्रशिक्षित करेगा। आज के युग में स्वामी विवेकानन्द ने पहली बार गीता को यह दिशा – एक व्यावहारिक दिशा प्रदान की। श्रीकृष्ण ने कई हजार वर्ष पूर्व इसे एक व्यावहारिक दर्शन के रूप में दिया था, परन्तु हमने इसे केवल एक पुण्य ग्रन्थ बनाकर रख लिया। जब हम गीता के उन अद्‌भुत ध्यान-श्लोकों को पढ़ते हैं, तो वहाँ हमें यही भाव मिलता है। वहाँ गीता की उस दूध से उपमा दी गयी है, जो श्रीकृष्ण रूपी ग्वाले द्वारा वेद रूपी गायों से दुही गयी है। यह दूध किसलिए है? यह पूजा के लिए नहीं है, बल्कि यह हमारी पुष्टि हेतु पीने के लिए है। केवल तभी हमें शक्ति मिल सकती है। परन्तु इन सैकड़ों वर्षों तक हमने इस दूध के पात्र को लिया, इसकी फूलों से पूजा की, प्रणाम किया, परन्तु कभी पीया नहीं। इसी कारण हम लोग शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक दृष्टि से दुर्बल रह गये। यदि हम इस दूध को पीना और पचाना आरम्भ करें, तो हमारी अवस्था बदल जायेगी। यह हमें चारित्रिक बल, कार्य-कुशलता तथा सेवाभाव का विकास करने और अन्ततः एक नवीन राष्ट्रीय भाग्य का निर्माण करने में सहायता करेगा।

भारत के विभिन्न अंचलों में यात्रा करते समय मेरा ध्यान अपने देश की जनता में व्यापक रूप से फैली इस नासमझी की ओर गया। पर हैदराबाद में १९४९ ई. के पुलिस-कार्यवाही के तत्काल बाद आयोजित मेरे पाँच दिनों के व्याख्यान-कार्यक्रम के दौरान यह बात मेरे मन में बलात् आ गयी। एक मित्र ने सुझाया कि मैं राज्य के सैन्य-प्रशासक जनरल जे. एन. चौधरी से भेंट करूँ। अतः जिनके साथ मैं ठहरा था, अपने उन मित्र के साथ ही मैं उनसे मिलने गया।

जनरल चौधरी ने हमारा स्वागत किया और अगले आधे घण्टे तक वे बोलते रहे तथा मैं सुनता रहा। प्रान्त के कुछ हिस्सों में कम्युनिस्ट विद्रोह चल रहा था और उन्हें बारम्बार टेलीफोन पर बातें करनी पड़ती थीं, परन्तु हमारी बातें भी चलती रहीं। तभी मैंने उनकी मेज पर गीता की एक प्रति देखी। इससे मुझे भी कुछ बोलने का मौका मिल गया। मैंने पूछा, "जनरल चौधरी, क्या आप गीता पढ़ते हैं? मैं आपकी मेज पर वह पुस्तक देख रहा हूँ।" उन्होंने एक बहुत ही थके स्वर में उत्तर दिया, "हाँ, जब कभी मैं थकान महसूस करता हूँ

और कुछ शान्ति पाना चाहता हूँ, तब मैं गीता की कुछ पंक्तियाँ पढ़ लेता हूँ।" मैंने दृढ़तापूर्वक कहा, "परन्तु इसका यह उद्देश्य तो नहीं है।" मेरी इस टिप्पणी ने उनको विस्मित कर दिया और उन्होंने पूछा, "क्या आपका तात्पर्य यह है कि इस पुस्तक का हमें थोड़ी-सी मानसिक शान्ति देने के अलावा और भी कोई उपयोग है?" मैंने कहा, "हाँ, यह पुस्तक केवल मानसिक शान्ति देने के लिए नहीं है; यह लोगों की सेवा करने हेतु आपमें शक्ति-संचार करने के लिए है, आपको एक जिम्मेदार नागरिक बनाने के लिए है। इसमें जीवन तथा कर्म का एक सर्वांगीण दर्शन है।"

जनरल चौधरी आश्चर्यचकित रह गये और मुझसे बारम्बार पूछने लगे, "तो क्या आपका तात्पर्य यह है कि इस प्रान्त के सैन्य-प्रशासक के रूप में मेरे लिए इसकी कोई प्रासंगिकता है?" मैंने कहा, "अवश्य है। हमें यह बात समझ लेनी होगी कि सभी कर्मठ नर-नारियों, सभी उत्तरदायित्व वहन करनेवाले लोगों को जीवन तथा कर्म के एक दर्शन की जरूरत होती है। गीता इसे 'योग' रूपी एक सहज शब्द के माध्यम से प्रस्तुत करती है। हमने अब तक इसे समझा नहीं है। गीता के चौथे अध्याय का पहला ही श्लोक लीजिए। श्रीकृष्ण वहाँ हमें बताते हैं, 'मैंने यह योगदर्शन उत्तरदायित्व वहन करनेवालों को दिया था, ताकि इस दर्शन के द्वारा वे शक्तिमान होकर लोगों की सेवा, सुरक्षा तथा पोषण कर सकें।' इस ग्रन्थ का यही उद्देश्य है।" मैंने इसी बात पर बारम्बार बल दिया और उन्होंने भी बारम्बार पूछा, "क्या मैं इस प्रान्त के प्रशासक के रूप में एक अधिक कुशल व्यक्ति बनने के लिए इस पुस्तक से कुछ सीख सकता हूँ?" मैंने कहा, "अवश्य, उत्तरदायित्व निभाने वाले सभी नर-नारियों को सर्वजन हिताय कार्य करने की प्रेरणा देना – यही तो इस पुस्तक का उद्देश्य है। यही तो इस पुस्तक का वैशिष्ट्य है। यह आपको सुलाने के लिए नहीं, बल्कि जगाने के लिए है। यह केवल मन की शान्ति देने के लिए नहीं है। यह समाज के सभी लोगों की भलाई करने हेतु आपको वह परम मानवीय भाव तथा संकल्प देने के लिए है।"

जनरल चौधरी बड़े प्रसन्न हुए। एक घण्टा बीत चुका था। मैंने पूछा, "क्या आपने स्वामी विवेकानन्द की कोई पुस्तक पढ़ी है?" वे बोले, "हाँ, मैंने उनकी कुछ छोटी पुस्तिकाएँ तथा उक्तियाँ पढ़ी हैं।" मैने कहा, "इससे काम नहीं चलेगा। मै चाहता हूँ कि आप उनका एक विशेष ग्रन्थ – कोलम्बो से अल्मोड़ा तक दिये हुए उनके 'भारतीय व्याख्यान' पढ़ें। इन व्याख्यानों ने हमारे देश को जगाया है और राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए संग्राम करनेवाले महान् देशभक्तों को पैदा किया। मनुष्य-निर्माण और राष्ट्रगठन ही इसकी विषय-वस्तु है। यदि आप इसे पढ़ने का वचन दें, तो मैं अपने हस्ताक्षर के साथ इसकी एक प्रति दिल्ली से भेज दूँगा।" वे बोले, "हाँ, मैं उसे पढ़ूँगा।" इसके बाद मैंने उनसे विदा ली। अगले दिन मैं दिल्ली पहुँचा और वहाँ से मैंने उन्हें वह पुस्तक भेज दी और उन्होंने मुझे धन्यवाद का एक बड़ा सुन्दर पत्र भेजा। बाद में जब वे कनाडा में हमारे देश के उच्चायुक्त थे, तो उन्होंने कनाडा के फ्रांसीसी नागरिकों में भारतीय संस्कृति का ज्ञान फैलाने के लिए मेरे Eternal Values for a Changing Society (परिवर्तनशील समाज के लिए शाश्वत मूल्य) ग्रन्थ के 'भारतीय संस्कृति का सार' शीर्षक प्रथम व्याख्यान को फ्रांसीसी भाषा में प्रकाशित करने की अनुमति माँगी थी।

अपने इस अनुभव से मेरी समझ में आ गया कि भारत के करोड़ों लोग गीता को प्रतिदिन प्रात:काल एक धार्मिक कृत्य के रूप में पढ़े जानेवाले किसी स्तोत्र के समान ही मानते हैं। आज हमें अपने मार्ग को आलोकित करने के लिए एक ऐसे दर्शन की जरूरत है, जिससे कि हम भारत के असीम पुरुषत्व तथा नारीत्व को विकसित करने की चुनौतियों का सामना कर सकें। यही दर्शन तथा अध्यात्म हमें गीता में प्राप्त होता है। गीता का सन्देश कई हजार वर्ष पूर्व कुरुक्षेत्र के उत्तेजनापूर्ण रणांगन में दिया गया था। केवल गीता ही एक ऐसे दर्शन का प्रतिनिधित्व करती है। बाकी सभी उपदेश किसी मन्दिर में, किसी गुफा में या किसी वन में दिये गये थे। परन्तु यहाँ शिष्य तथा गुरु, अर्जुन तथा श्रीकृष्ण – दोनों ही विलक्षण व्यक्तित्व थे, दोनों ही योद्धा थे। और शिक्षक श्रीकृष्ण करुणा तथा सार्वभौमिक दृष्टिकोण से सम्पन्न थे। इस प्रकार गीता एक वीर शिक्षक द्वारा, एक वीर शिष्य को दिया गया एक वीरतापूर्ण सन्देश है। सार्वभौमिक होने के कारण, यह संसार में कही भी स्थित, किसी भी व्यक्ति को अपनी मानवीय सम्भावनाओं को अधिकतम परिमाण में अभिव्यक्त करने में सक्षम बनाकर उसके लिए उपयोगी सिद्ध होती है। इसके एक हजार वर्ष पूर्व उपनिषद् या वेदान्त ने मानवीय सम्भावनाओं के विज्ञान का प्रतिपादन किया और गीता उसके व्यावहारिक पक्ष को सामने रखती है। इसीलिए स्वामी विवेकानन्द गीता को व्यावहारिक वेदान्त का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ मानते थे।

गीता का प्रथम आंग्ल अनुवाद

गीता का सर्वप्रथम अंग्रेजी अनुवाद सर चार्ल्स विल्किन्स द्वारा होकर ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा प्रकाशित हुआ था। भारत के प्रथम गवर्नर-जनरल वारेन हेस्टिंग्ज ने इसकी भूमिका लिखी, जिसमें हम निम्नलिखित भविष्यवाणी पाते हैं –

"जब भारत में अंग्रेजों का प्रभुत्व समाप्त हुए काफी काल बीत चुका होगा और इसकी सम्पदा तथा सत्ता के उद्गम स्मृति मात्र का विषय होकर रह जायेंगे, तब भी भारतीय दर्शनों के लेखक जीवित रहेंगे।"

एक सदी बाद सर एड्विन अर्नाल्ड (१८३२-१९०४) द्वारा अंग्रेजी में The Song Celestial (स्वर्गीय गीत) नाम से इसका एक और भी सुन्दर अनुवाद निकला। अर्नाल्ड ने भारत के पुणे आदि स्थानों में कार्य करते समय संस्कृत भाषा सीख ली थी। भारतीय संस्कृति के प्रति उनके मन में बड़ा लगाव विकसित हो गया था और इंग्लैंड लौटकर उन्होंने यह अद्भुत अनुवाद किया और The Light of Asia (एशिया की ज्योति) नाम से बुद्ध पर भी एक वैसी ही बेजोड़ पुस्तक लिखी। इन दोनों ग्रन्थों के अब तक कोई ५०-६० संस्करण निकल चुके होंगे। दोनों ही ग्रन्थ पाठकों के हृदय में सीधे प्रविष्ट हो जाते हैं।

भगवद्-गीता मानवीय समस्याओं को मानवीय ढंग से लेती है। इसीलिए इसका इतना प्रभाव होता है। इसने भारत में अनेक शताब्दियों तक मानव-मन को प्रेरित किया है और आज यह विश्व के विभिन्न भागों के करोड़ों लोगों को प्रेरित कर रही है। यह बड़ी रोचक बात है कि इन शताब्दियों के दौरान गीता को पढ़कर लोगों के दृष्टिकोणों में परिवर्तन आता रहा है। अमेरिका में इमर्सन, वाल्ट ह्विटमैन तथा थोरो; और इंग्लैंड में कार्लायल जैसे चिन्तकों तथा लेखकों ने गीता को पढ़ने के बाद अपने दृष्टिकोण में उदारता तथा गम्भीरता में वृद्धि का अनुभव किया; और तब से उनकी रचनाएँ भी एक नये सन्देश को अभिव्यक्ति प्रदान करने लगीं।

अनमोल बोल

* अँधेरे को कोसते रहने के बदले चिराग ही क्यों नहीं जला लेते !

* हम तभी तक भय के शिकार बने रहते हैं, जब तक कि हम भय को प्रार्थना का शिकार नहीं बनाते।

* ईश्वर में विश्वास करना और साथ ही स्वयं को दुर्बल मानना अपने आप में परस्पर-विरोधी बातें हैं। यह व्यक्ति की आस्तिकता पर प्रश्नचिह्न लगाता है।

* जो पराजय स्वीकार करने को तैयार है, वह कभी पराजित नहीं होता।

* प्रभो, जिन बातों को मैं बदल नहीं सकता, उन्हें स्वीकार करने की शक्ति तथा जिन्हें बदल सकता हूँ, उन्हें बदलने का साहस दो। और साथ ही विवेक भी दो, ताकि इन दोनों का भेद समझ सकूँ।

* सुख लक्ष्य नहीं, बल्कि यात्रा का वह मार्ग है, जिससे होकर हम गुजरते हैं।

आदि शंकराचार्य द्वारा गीता-महिमा का उद्घाटन

आधुनिक युग में गीता ने पूरी दुनिया में अपना साम्राज्य जमा लिया है। प्रारम्भ में यह केवल भारत में ही ज्ञात थी, और वह भी पूरे भारत में नहीं, बल्कि मात्र संस्कृत के कुछ विद्वानों को ज्ञात थी। पर आठवीं शताब्दी में शंकराचार्य ने पहली बार इस पुस्तिका को बृहत् इतिहास-ग्रन्थ महाभारत से बाहर निकाला, संस्कृत में इस पर एक महान् भाष्य लिखा और लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया। तब तक यह महाभारत के भीष्म पर्व में छिपी पड़ी थी। स्वामी विवेकानन्द ने शंकराचार्य के इस महत् कार्य को सराहा है। अपने 'सर्वांगीण वेदान्त' में वे कहते हैं (विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ५, पृ. २२०) –

"शंकराचार्य का गौरव गीता के प्रचार से ही बढ़ा। इन महापुरुष ने अपने महान् जीवन में जो बड़े बड़े कर्म किये, गीता का प्रचार और उसकी एक सुन्दर भाष्य-रचना भी उन्हीं में है। और भारत के सनातन-मार्गी सम्प्रदाय-संस्थापकों में से हर एक ने उनका अनुगमन किया और तदनुसार गीता पर एक एक भाष्य की रचना की।"

तब भी यह केवल कुछ विद्वानों तथा सन्तों तक ही सीमित थी। बाद में अन्य लोगों ने इसकी व्याख्याएँ लिखीं और क्रमशः यह ग्रन्थ हमारी राष्ट्रीय भाषाओं में भी प्रवेश कर गया; और शंकराचार्य के कुछ शताब्दियों बाद सन्त ज्ञानेश्वर ने मराठी में ज्ञानेश्वरी लिखी। आधुनिक काल में लोकमान्य तिलक ने दो खण्डों में 'गीता-रहस्य' नामक अपनी महान् पुस्तक लिखी। उन्होंने इसे तब लिखा, जब ब्रिटिश सरकार ने कुछ वर्षों के लिए उन्हें बर्मा (म्याँमार) के माण्डले जेल में डाल दिया था। उनके पास सन्दर्भ के लिए कोई पुस्तक न थी, तथापि उन्होंने इसे अपनी स्मृति से लिखा। यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है और उसके बाद से अनेक पुस्तकें निकल चुकी हैं; आज पूरे भारत तथा विश्व के अनेक भागों में गीता एक अत्यन्त लोकप्रिय पुस्तक है। विश्व की समस्त भाषाओं में इसके अनेक संस्करण निकल रहे हैं और ये पुस्तकें छपकर आते ही बिक जाती हैं। अतः हम एक ऐसे युग में निवास कर रहे हैं, जो मृदुतापूर्वक क्रमशः इस महान् ग्रन्थ द्वारा रूपायित हो रहा है। इसका सन्देश सार्वभौमिक, व्यावहारिक, बलप्रद, तथा पवित्र बनानेवाला है। महान् उपनिषदों में मानवीय संसाधन तथा मानवीय सम्भावनाओं का जो एक श्रेष्ठ विज्ञान प्रस्तुत किया गया है, उसे अपनी व्यावहारिक दिशा गीता में ही प्राप्त हुई। इस ग्रन्थ का हमें इसी दृष्टिकोण से – मानवीय विकास तथा परिपूर्ति के विज्ञान के रूप में ही अध्ययन करना होगा। इन सात सौ श्लोकों का छन्द भी अत्यन्त सरल है, यह हर पंक्ति में आठ अक्षरों वाला प्रचलित अनुष्टुप छन्द है; वैसे बीच बीच में कुछ लम्बे छन्दवाले श्लोक भी आये हैं।

❖ (क्रमशः) ❖

मन को कैसे ठीक रखें

स्वामी सत्यरूपानन्द

संसार में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं, जिसका मन कभी-न-कभी खराब न हुआ हो। हम अपने दैनन्दिन जीवन में भी देखते हैं कि कई बार हमारा मन खराब हो जाता है। हम कहते हैं आज मेरा मन अच्छा नहीं, क्षुब्ध है। या कहते हैं 'मूड खराब' है।

वैसे ही जब हम अपने विशेष किसी कार्यवश किसी व्यक्ति से मिलना चाहते हैं तो पहले यह पता लगाने का प्रयत्न करते हैं कि उसका 'मूड' कैसा है? कहीं ऐसा तो नहीं कि उसका मन खराब है। हम यह जानते हैं कि जब किसी व्यक्ति का मन खराब है, तो उससे उस समय मिलने पर हमारा काम बनने के बजाय बिगड़ जाने की अधिक सम्भावना होती है। मन खराब होने की समस्या आज की नहीं है। यह समस्या उतनी ही पुरानी है जितना कि मनुष्य, क्योंकि मानव मन का स्वभाव ही ऐसा है कि वह सरल रेखा में नहीं चलता, उसमें उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। मन कभी स्वस्थ और प्रसन्न रहता है तो कभी अस्वस्थ और दुखी।

जब हमारा मन खराब होता है तब हम साधारणतया असन्तुष्ट, चिड़चिड़े और उदास हो जाते हैं। पहले जो चीजें हमें रुचिकर और प्रिय लगती थीं, वही अलोनी और अप्रिय लगने लगती हैं। स्वजन-सम्बन्धी, मित्रों आदि से मिलना-जुलना अच्छा नहीं लगता। हँसी-मजाक कड़ुआ लगने लगता है। मन की स्वस्थ और प्रसन्न अवस्था में दूसरों की जिन छोटी छोटी बातों की ओर हमारा ध्यान भी नहीं जाता था, जिसे हम कभी बुरा नहीं मानते थे वे बातें ही अब बुरी लगने लगती हैं। काँटों की तरह चुभने लगती हैं।

मन की ऐसी स्थिति में हम प्रायः दूसरों में दोष ही दोष देखने लगते हैं। पर-निन्दा में ही हमें रस आने लगता है। हमारी सहन शक्ति कम हो जाती है। धैर्य छूट जाता है। हम अधीर और चंचल हो उठते हैं। मन कड़ुआ रहता है और हम कटुभाषी हो जाते हैं। व्यक्ति की परिपक्वता और समझ के भेद से किसी का मन अधिक खराब होता है तो किसी का कुछ कम। किसी का मन अधिक समय तक खराब रहता है तो किसी का कुछ कम समय तक खराब रहता है। मन खराब होने पर उससे हमारा आचरण और चरित्र भी प्रभावित होता है और यदि हमारा मन अधिक दिनों तक खराब रहा तो हमारा चरित्र दूषित हो जाता है। जिसके कारण हम परिवार तथा समाज में अप्रिय होकर व्यक्तिगत जीवन में असफल हो जाते हैं। लोगों से हमारे सम्बन्ध बिगड़ जाते हैं। हमारी नौकरी-चाकरी, व्यवसाय-वाणिज्य, काम-धन्धा सब असन्तुलित और अव्यवस्थित हो जाता है। मन सदैव अशान्त और उद्विग्न रहता है। हमें कहीं भी शान्ति नहीं मिलती। जीवन भार स्वरूप हो जाता है।

पर इतना सब होते हुए भी मनुष्य में ऐसी अद्‌भुत शक्ति है कि वह यदि दृढ़ संकल्प कर ले तो विवेक-विचार तथा नियंत्रण के द्वारा मन की खराब से खराब अवस्था को सुधारकर उसे सदैव के लिये स्वस्थ और शान्त कर सदैव प्रसन्न रह सकता है।

जब कभी ऐसा लगे कि हमारा मन खराब हो रहा है, विचलित हो रहा है, तो हमें तुरन्त सावधान हो जाना चाहिए तथा दृढ़तापूर्वक निश्चय करना चाहिए कि हम अपने मन को खराब नहीं होने देंगे। उसे सन्तुलित और शान्त रखेंगे। ऐसा दृढ़ संकल्प ही मन को ठीक करना प्रारम्भ कर देगा।

ऐसा निश्चय कर किसी एकान्त स्थान में जाकर शान्ति-पूर्वक चुपचाप बैठ जाइये और विचार करने का प्रयत्न कीजिये कि मन खराब होने का क्या कारण है? मन के क्षुब्ध होने के कारणों को ढूँढ़िये। फिर उन्हें दूर करने का उपाय कीजिये।

यदि चुपचाप बैठकर विचार करने में कठिनाई हो तो कागज लेकर बैठ जाइये और अपने मन में उठनेवाले भावों और विचारों को विस्तारपूर्वक लिखिये। मन की सभी बातों को खोलकर लिखिये। जब ऐसा लगे कि आपने मन की सभी बातें लिख ली हैं, तो उसे आद्योपान्त ध्यानपूर्वक पढ़िये। इस प्रकार आप अपने मन खराब होने के कारणों को जान सकेंगे। उन्हें पकड़ सकेंगे।

खराब मन को ठीक करने के लिए धैर्य की बड़ी जरूरत है, क्योंकि मन खराब होने पर सबसे पहले धैर्य छूट जाता है। फिर क्रोध आने लगता है। स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है, इस कारण स्वजन, सम्बन्धियों, मित्रों आदि से सम्बन्ध बिगड़ जाते हैं, परिणाम-स्वरूप हमारा मन और खराब हो जाता है तथा दिनों-दिन हम और अधिक अशान्त और दुखी होते जाते हैं।

ऐसे समय में मौन और कम बोलने का अभ्यास बड़ा उपयोगी सिद्ध होता है। न बोलने या कम बोलने पर हम बहुत से व्यर्थ तर्क-वितर्क तथा कटु व्यक्तियों से बच जाते हैं। इस प्रकार दूसरों से सम्बन्ध बिगड़ने से भी बच जाते हैं।

यदा-कदा मन खराब होना स्वाभाविक है, तथापि यदि यथासमय उसे ठीक करने का प्रयत्न न किया जाय तो 'खराब मन' एक मानसिक रोग होकर हमारे स्वभाव और चरित्र को ही दूषित कर देगा। और यदि एक बार स्वभाव दूषित हो गया, तो उसे सुधारना बहुत कठिन हो जाता है।

मन को स्वस्थ और प्रसन्न करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है प्रसन्नचित्त व्यक्तियों का संग करना तथा उनके परामर्श तथा आचरण के अनुसार अपने विचारों और आचरणों में परिवर्तन लाना। ◻

स्वामी विवेकानन्द की शिक्षा-पद्धति

स्वामी निखिलात्मानन्द

(६ अक्तूबर, २००१ को विवेकानन्द विद्यापीठ, रायपुर द्वारा प्रतिवर्ष की भाँति अयोजित 'स्वामी आत्मानन्द व्याख्यानमाला' के अन्तर्गत रामकृष्ण मठ तथा मिशन, इलाहाबाद के प्रमुख स्वामी निखिलात्मानन्द जी ने एक विचारोत्तेजक व्याख्यान दिया, प्रस्तुत लेख उसी का एक अविकल अनुलिखन है। टेप पर से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री वीरेन्द्र कुमार वर्मा ने सम्पन्न किया है। – सं.)

स्वामीजी की यह मनुष्य-निर्माणकारी शिक्षा क्या है? क्या हम मनुष्य नहीं हैं? स्वामीजी की दृष्टि में हम मनुष्य नहीं, दो पैर वाले पशु हैं। मनुष्य और पशु में क्या अन्तर है? एक संस्कृत का सुभाषित कहता है कि मनुष्य और पशु में चार बातें समान रूप से पायी जाती हैं –

आहार निद्रा भय मैथुनञ्च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषाम् अधिकोविशेषो
धर्मेणहीनाः पशुभिः समानाः ।।

पशु को नींद आती है, मनुष्य को भी आती है। पशु को भूख लगती है, मनुष्य को भी लगती है। पशु सन्तति का प्रजनन करता है, मनुष्य भी करता है। पशु को भय लगता है, मनुष्य को भी लगता है। ये चारों बातें मनुष्य और पशु में एक समान हैं, किन्तु जो धर्म और विवेक मनुष्य के अन्दर है, वह पशु में नहीं है। यह विवेक और धर्म ही मनष्य को पशु से अलग करता है। तात्पर्य यह कि शिक्षा ठीक ठीक मनुष्य का निर्माण करे। वह कैसे होता है? इस तरह से होता है – शिक्षा व्यक्ति के अन्दर विवेक तथा धर्म का संचार करती है, तभी वह मनुष्य बन पाता है, अन्यथा वह तो पशु है।

आज हम समाज या संसार में देख रहे हैं कि मनुष्यता कम है, पशुता बहुत अधिक है। पशु अपने लिये जीता है, आज का मनुष्य भी केवल अपने लिये ही जी रहा है, अपने लिये ही संचय कर रहा है। इसलिये स्वामीजी ऐसी शिक्षा चाहते थे, जो हमारे अन्दर के दिव्यत्व को, हमारी पूर्णता को प्रगट करे। वे कहते हैं – "Education is the manifestation of perfection already in man – मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति का नाम शिक्षा है।" शिक्षा और धर्म में वे ज्यादा अन्तर नहीं रखते। धर्म की परिभाषा देते हुए उन्होंने कहा – "Religion is the manifestation of divinity already in man – मनुष्य के भीतर की दिव्यता की अभिव्यक्ति का नाम धर्म है।" अर्थात् धर्म और शिक्षा में कोई अन्तर नहीं है। मनुष्य के भीतर जो पूर्णता है, वही दिव्यता है और शिक्षा के द्वारा इस दिव्यता को प्रकट किया जा सकता है। स्वामीजी का तात्पर्य था कि इस शिक्षा के द्वारा इस पूर्णता को अभिव्यक्त किया जा सकता है। स्वामीजी चाहते हैं कि शिक्षा ऐसी हो, जिससे हम ठीक ठीक मनुष्य बन सकें। चार तरह के विकास होने से हमारे अन्दर की वह पूर्णता अभिव्यक्त हो सकती है।

प्रथमत: हमारा शारीरिक विकास होना चाहिए। शारीरिक रूप से हमें सक्षम होना चाहिए; शक्तिवान और बलवान होना चाहिये। इसलिए स्वामीजी कहते हैं कि गीता पढ़ने की अपेक्षा फुटबाल खेलकर तुम ईश्वर के अधिक समीप पहुँच सकते हो। स्वामीजी का ऐसा कहने का तात्पर्य क्या है? यह कि जब तुम फुटबाल खेलोगे, जब तुम्हारी मांसपेशियाँ सशक्त होंगी, जब शरीर से अपने को सतेज अनुभव करोगे, शक्तिवान बनोगे, तब तुम भगवान श्रीकृष्ण के गीता के उपदेशों को सही रूप से समझ सकोगे, अन्यथा नहीं। जब तक शरीर सतेज और सशक्त नहीं होगा, वे श्लोक हमारी समझ में नहीं आ सकेंगे। इसलिए स्वामीजी ने कहा – शिक्षा ऐसी होनी चाहिये, जो हमारे शरीर को बलिष्ठ बनाये – "What we want is the muscles of iron and nerves of steel. – हमें फौलाद की मांस-पेशियाँ और लोहे के स्नायु चाहिए।" लेकिन अभी हमारे पास क्या है – "We have the muscles of butter and nerves of water. – हमारी मांसपेशियाँ मक्खन जैसी और स्नायु मानो पानी जैसे हैं।" ओलम्पिक खेलों में हमारे देश को पदकों के लाले पड़ जाते हैं, इसलिए स्वामीजी कहते हैं कि शिक्षा को हमारा शारीरिक विकास करना चाहिए, हमें शक्तिमान तथा सबल बनाना चाहिए। स्वामीजी स्वयं व्यायाम करते थे और अपने गुरुभाइयों को भी नियमित व्यायाम करने की सलाह देते थे। शरीर जब सशक्त होता है, तब हम उच्च सिद्धान्तों को समझने में समर्थ होते हैं।

इसके बाद स्वामीजी कहते हैं – शारीरिक विकास के साथ ही शिक्षा को हमारा मानसिक विकास करना चाहिए, हमारे मन को शक्तिमान बनाये। हमारे मन के भीतर अद्‌भुत क्षमता है – ऐसी क्षमता है जिसके माध्यम से हम उसकी गहराई में प्रवेश करके उसकी शक्ति को जान सकते हैं। अभी हमारा मन बड़ा चंचल है। कैसा चंचल है? स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि हमारा मन बन्दर के समान है। बन्दर कभी चुपचाप नहीं बैठता। यदि बैठा भी रहे तो उसकी आँखें चारों ओर घूमती रहती हैं। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि हमारा मन ऐसा बन्दर है, जिसे मानो शराब पिला दी गई हो। बन्दर तो वैसे ही चंचल होता है, पर शराब पीकर न जाने कितना उछल-कूद करेगा। उसके बाद उस बन्दर को बिच्छू ने काट लिया हो और साथ ही उस बन्दर पर भूत सवार हो गया हो, ऐसा जो बन्दर होगा, वह कितना उछल-कूद करेगा। स्वामीजी कहते हैं

कि हमारा मन इस बन्दर जैसा ही है। इसे क़ाबू में लाना ही हमारा मानसिक विकास है, मानसिक शिक्षा है अर्थात् जिसके द्वारा हम अपने मन पर नियंत्रण कर सकें। जब तक हमारा मन नियंत्रित नहीं होगा, तब तक वह एकाग्र नहीं हो पायेगा। स्वामीजी कहते थे कि यदि मुझे फिर से शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिले, तो मैं इस प्रकार मन को एकाग्र करने का प्रयास करूँगा। मन की एकाग्रता ऐसी है, जिसके माध्यम से हमारे भीतर की पूर्णता प्रगट होती है। ज्ञान हमारे बाहर नहीं, बल्कि अन्दर ही विद्यमान है और शिक्षक उस ज्ञान को पैदा नहीं करता, वरन् केवल उसके प्रकटीकरण के मार्ग की रुकावटों को हटा देता है। जैसे ही रुकावटें दूर होती हैं, हमारे भीतर की पूर्णता प्रगट हो जाती है। हमारे अन्दर की पूर्णता कैसे प्रगट होती है? पतंजलि ऋषि के योगशास्त्र में एक सूत्र है – **ततः क्षेत्रिकवत्**। तालाब से खेत में पानी लाने के लिए मेड़ को काट देता है, तो पानी अपने आप खेत के अन्दर आने लगता है। स्वामीजी कहते हैं कि इसी प्रकार शिक्षक का कार्य अवरोधों और रुकावटों को दूर करना मात्र है और अन्दर की पूर्णता स्वत: ही प्रगट हो जाती है।

कहते हैं कि न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण के नियम का आविष्कार किया। कैसे किया? वे सेव के वृक्ष के नीचे बैठे थे। अचानक सेव का एक फल वृक्ष से नीचे गिरा। न्यूटन के मन में तुरन्त यह विचार आया कि यह फल नीचे क्यों गिरा? ऊपर क्यों नहीं गया? न्यूटन ने जब यह बात अपने मित्रों से कही होगी, तो सम्भवत: सब मित्रों ने हँसी उड़ाते हुए कहा होगा कि अरे, सभी चीजें नीचे ही गिरती हैं, इसलिये सेव भी नीचे ही गिरा। इसमें आश्चर्य क्या है? पर नहीं, जैसे ही सेव का फल नीचे गिरता है, वैसे ही न्यूटन के भीतर का वह ज्ञान प्रस्फुटित होता है कि अवश्य ही पृथ्वी में कोई ऐसी शक्ति है, जो इस सेव को अपने केन्द्र की ओर खींचती है और उन्होंने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का आविष्कार किया। स्वामीजी कहते हैं कि सारा ज्ञान व्यक्ति के भीतर स्थित हैं और उस ज्ञान को हम एकाग्रता के द्वारा प्रगट कर सकते हैं। जब हमारा मन एकाग्र होता है, उसमें ऐसी ऊर्जा आ जाती है, ऐसी शक्ति आ जाती है कि मानो मन अपनी ही परतों को भेद लेता है और तब मानो वह अपनी पूर्णता को विकसित या प्रगट कर लेता है।

स्वामीजी कहते हैं कि हर बच्चे को मन की एकाग्रता का अभ्यास कराना चाहिये, पर किस वस्तु पर एकाग्रता का। टी.वी. या फिल्म देखने में मन अनायास ही काफी समय के लिए एकाग्र हो जाता है, समय बीतने का भान ही नहीं होता, पर यह मन की एकाग्रता नहीं है। मन की एकाग्रता तो वहाँ है जहाँ पर अरुचिकर विषय पर भी हम अपने मन को एकाग्र कर सकें अर्थात् मन को मन में ही एकाग्र कर सकें। यही मन की सच्ची एकाग्रता है।

इस एकाग्रता से कितनी शक्ति पैदा होती है? जैसे आप शीत के दिनों में घण्टों धूप में बैठ सकते हैं, परन्तु सूर्य की किरणों के ताप का पता तब चलता है, जब हम उन्हें आतिशी शीशे से एकाग्र करते हैं और तब वह कागज को जला देती है। शरीर को भी जला सकती है। स्वामीजी कहते हैं कि वैसे ही हमारे मन में अद्भुत शक्ति है और यह शक्ति तब प्रकट होती है, जब हम इसे एकाग्र करते हैं। इसीलिये वे मानसिक शक्ति के विकास के लिये मन की एकाग्रता पर जोर देते हैं। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमने देखा है। बस्तर क्षेत्र के नारायणपुर में जब हम लोगों ने आदिवासी बच्चों के लिये स्कूल खोला, तब ऐसे बच्चे आये, जिनके चौदह पुरखों ने स्कूल देखा भी नहीं था और इनको लेकर स्कूल प्रारम्भ किया गया। प्रारम्भ में उन्हें प्रार्थना सिखायी गयी, ध्यान का अभ्यास कराया गया। हमने सोचा कि देखें, स्वामीजी की वाणी कितनी चरितार्थ होती है। प्रतिदिन प्रार्थना के बाद बच्चों को भगवान के जिस रूप पर मन लगे, पाँच मिनट तक ध्यान कराया जाता था। उसका फल यह हुआ कि हर परीक्षा में इन आदिवासी बच्चों ने आश्चर्यजनक परिणाम दिखाये। बस्तर जिले की प्राथमिक बोर्ड परीक्षा में हमारे पचीस में से बीस बच्चे मेरिट लिस्ट में आये। तात्पर्य यह कि इन बच्चों में मन को एकाग्र करने से जो क्षमता आई, वह केवल पढ़ने में ही नहीं, वरन् खेलकूद में, संगीत में तथा अन्य ललित कलाओं में अद्भुत प्रगति हुई। इसलिये स्वामीजी कहते हैं कि मानसिक विकास अथवा मन की एकाग्रता ही शिक्षा का मूल उद्देश्य होना चाहिये।

तीसरी बात, स्वामीजी कहते हैं कि केवल शारीरिक और मानसिक विकास से ही हमारा काम नहीं चलेगा। सामाजिक तथा राष्ट्रीय विकास भी होना चाहिये। जिस समाज ने हमें जन्म दिया, जिस राष्ट्र में हमने जन्म लिया, जब तक हम उसके बारे में, परिवार से लेकर समाज तक के बारे में नहीं सोचते हैं, तब तक तो हम पशु के समान हैं। आज वही अवस्था है। समाज के बारे में या राष्ट्र के बारे में व्यक्ति कहाँ सोचता है? हम देख रहे हैं कि आज हमारा कैसा अवमूल्यन हुआ है। स्वामीजी कहते हैं – समाज के बारे में सोचो। इसी को एक बड़े जीवविज्ञानी सर जूलियन हक्सले कहते हैं – Psyco-Social Development – मनो-सामाजिक विकास। शारीरिक और मानसिक विकास के साथ ही मनो-सामाजिक विकास भी होना चाहिये। शारीरिक विकास तो देखने में आता है कि बच्चा जब पैदा होता है, तो आठ-नौ पौंड का होता है और वही बच्चा आगे चलकर दो सौ पौंड का हो जाता है। मानसिक विकास भी देखने में आता है, पहले उसकी बुद्धि कैसी थी, पर धीरे धीरे वह मन तथा बुद्धि का विकास करता है, परन्तु यह मनो-सामाजिक दिखाई नहीं देता। व्यक्ति चाहे कितना भी पढ़ा-लिखा हो, बड़ा विद्वान् हो, परन्तु उसके

निकट सम्पर्क में आने पर देखने में आता है कि उसका मनो-सामाजिक विकास हुआ ही नहीं है।

यहाँ उदाहरण के तौर पर दो बच्चों को लिया जा सकता है, जो एक साथ ही पाँचवी कक्षा में पढ़ते हैं। दोनों एक ही प्रकार के और एक ही उम्र के हैं। एक बच्चा छुट्टी में घर आता है, माँ से कहता है, "माँ, मुझे भूख लगी है, तुरन्त खाना दो।" उसकी माँ बिस्तर पर लेटी है, कहती है, "देख, बेटा, मुझे बुखार है। तू खाना निकालकर खा ले। वह लड़का मचलकर कहता है – नहीं, तुम्ही निकालकर दो। माँ उसे खाना निकालकर देती है। दूसरा बच्चा भी छुट्टी में घर आता है। देखता है कि उसकी माँ पलंग पर लेटी हुई है। वह भी कहता है, "माँ, मुझे बहुत भूख लगी हुई है – जल्दी खाना निकालो।" माँ कहती है, "बेटा, मुझे बुखार है। खाना वहाँ रखा हुआ है, तू निकालकर खा ले।" वह छूकर देखता है। माँ का शरीर बहुत गर्म है। वह कहता है, "तुम लेटी रहो। मैं डॉक्टर को बुलाकर लाता हूँ।" वह माँ की चिकित्सा कराता है। स्वामीजी के मतानुसार एक ही कक्षा में पढ़नेवाले इन दो बच्चों में से एक का मनो-सामाजिक विकास नहीं हुआ और दूसरे का हुआ है। दूसरा बच्चा अपनी माँ के कष्ट के बारे में सोचता है। इसी प्रकार यदि व्यक्ति समाज और देश के बारे में न सोचें, तो कहना होगा कि उसका मनो-सामाजिक विकास नहीं हुआ है।

इसीलिये स्वामीजी कहते हैं कि हमारा राष्ट्रीय विकास होना चाहिये। देश के बारे में सोचना चाहिये। उन्होंने उस समय कहा था, "आगामी पचास वर्षों के लिये सभी देवी-देवताओं को भूल जाओ। केवल एक ही देवी आराध्या रहे और वह है – भारतमाता। भारतवर्ष की आराधना करो।" स्वामी विवेकानन्द का अपने देश के प्रति कितना प्रेम था! उसका एक लक्षांश भी यदि हमारे भीतर आ जाय, तो हमारा जीवन और समाज बदल जायेगा। उन्होंने मद्रास के एक व्याख्यान में कहा था – "मेरे भावी देशभक्तो, मेरे समाज सुधारको, क्या तुम अनुभव करते हो कि देवताओं और ऋषियों की करोड़ों सन्तानें पशुओं के समान हो गयी हैं? क्या तुम अनुभव करते हो कि लाखों लोग आज भूख से मर रहे हैं और सदियों से मरते आये हैं? क्या यह भावधारा तुम्हारे हृदय में प्रवेश करके तुम्हारे रक्त में से प्रवाहित होती हुई तुम्हारे धड़कन के साथ एकरूप हुई है? क्या इसने तुम्हें पागल बनाया है? क्या इस विचारधारा को लेकर के तुम अपने सगे-सम्बन्धियों का त्याग करने के लिये तैयार हो? यदि तुम्हें ऐसा हुआ है, तो तुमने देशभक्ति की पहली सीढ़ी पर कदम रखा है, केवल पहली सीढ़ी पर।" स्वामीजी कहते हैं कि ऐसा देशप्रेम हमारे भीतर आना चाहिये। भारत की करोड़ों वर्ष पुरानी संस्कृति जीवित क्यों है? इसलिए कि इसने सारे संसार को, प्रेम का, त्याग का, शान्ति का पाठ सिखाया है। इसलिये राष्ट्र से प्रेम करना सीखो। शिक्षा के लिये तीसरी आवश्यक चीज वे बताते हैं कि सामाजिक विकास ही इसकी प्राथमिकता होनी चाहिये।

और अन्ततः उन्होंने आत्मिक विकास की भी बात कही है। शिक्षा ऐसी हो, जो हमारा आत्मिक विकास करे, हमारे स्वरूप को प्रगट करे। हमारे अन्दर जो आत्मशक्ति है, वह प्रकट हो। इसलिये स्वामीजी कहते हैं कि आत्मिक विकास होने पर हम अपने भीतर की शक्ति का बोध करेंगे। भगवान श्रीकृष्ण की इस वाणी को समझने में समर्थ होंगे –

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

हम जो हैं, उसे न शस्त्र काट सकता है, न आग जला सकती है, न जल गीला कर सकता है; हम तो आत्मस्वरूप हैं। यह आत्मिक विकास है। हम अपने स्वरूप को भूले बैठे हैं। हम समझ नहीं पा रहे हैं कि हम क्या हैं? कहते हैं कि अपने को आत्मा के रूप में अनुभव करो। यदि एक विद्यार्थी स्वयं को आत्मा के रूप में अनुभव करेगा, तो वह बेहतर विद्यार्थी होगा। एक शिक्षक अपने को आत्मा के रूप में अनुभव करेगा, वह एक अच्छा शिक्षक होगा। एक व्यवसायी अपने आप को आत्मा के रूप में अनुभव करेगा, तो एक अच्छा व्यवसायी होगा। तब वह किसी को धोखा नहीं देगा। जब वह यह अनुभव करेगा कि मैं ही सभी के भीतर विद्यमान हूँ, तो क्या किसी को धोखा दे सकेगा? क्या किसी से द्वेष कर सकता है? नहीं। इसीलिए स्वामीजी कहते हैं – अपना आत्मिक विकास करो। अपने को आत्मा के रूप में सोचो। अपने आप को हम शरीर क्यों सोचते हैं? इसलिए कि हजारों जन्मों से हम अपने आपको शरीर समझते आये हैं। यदि हम अपने आपको आत्मा समझेंगे, तो आत्मवत् हो जायेंगे। हमने हजारों वर्षों तक अनेक जन्मों में अपने को शरीर समझा, अतः शरीर के वशीभूत हो गये हैं। हम अपने अन्दर भी आत्मा को प्रकट करें। चिन्तन करें कि हमारे भीतर अनन्त शक्ति है। वह शक्ति प्रगट होगी। इसलिये स्वामीजी कहते हैं कि यह आत्मिक विकास, शिक्षा के द्वारा उद्घाटित चौथा विकास है।

शिक्षा ऐसी हो जिसके द्वारा हमारे अन्दर ये चारों विकास घटित हों। शारीरिक, मानसिक, सामाजिक या राष्ट्रीय और आत्मिक विकास। स्वामीजी कहते थे कि यही शिक्षा हमें चाहिये और इसी के द्वारा हम यथार्थ मनुष्य बन सकते हैं। स्वामीजी कभी यह प्रार्थना नहीं करते कि माँ मुझे देवता बना दो। वे कहते थे – "माँ मुझे मनुष्य बना दो।" मनुष्य हम तभी ठीक-ठीक हो सकते हैं, जब ये विकास हमारे जीवन में आयें, हमारे जीवन में प्रकट हों। ❑❑❑

श्रद्धा है द्वार ज्ञान का

भैरवदत्त उपाध्याय

श्रद्धा दैवी गुण है। दैवी सम्पत्ति है, भले ही उसकी गणना गीता की दैवी सम्पत्तियों की सूची में नहीं है। बिना श्रद्धा के क्या दैवी गुण आ सकते हैं? यदि अपने जीवन-मूल्यों के प्रति हमारी श्रद्धा नहीं है, तो उनसे न कोई प्रेरणा मिल सकती है और न उनके अनुवर्तन का ही प्रयास होगा। उनके सम्मान का भी कोई प्रश्न नहीं होगा, उन गुणों के धारक या साधक की भी कोई महत्ता नहीं होगी। जिन महापुरुषों के चरणों में श्रद्धा से हमारा मस्तक झुक जाता है, उसका आशय यही है कि जिन जीवन-मूल्यों के लिये उन्होंने अपना जीवन समर्पित किया था, उनकी हमें तथा हमारे समाज को आकांक्षा, आवश्यकता एवं उपयोगिता है। कोई भी व्यक्ति स्वयं में महान् नहीं है, जीवन-मूल्य ही महान् हैं, जिनके अनुरूप अपने जीवन को ढालने के प्रयासों के कारण ही वह महान् बनता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, "श्रद्धा – आस्था, विश्वास और पूजनीय भावों की त्रिकुटी है। महत्त्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति है। किसी व्यक्ति की जनसामान्य से विशिष्ट शक्ति या गुण को देख उसके सम्बन्ध में जो एक स्थायी आनन्द पद्धति हृदय में स्थापित हो जाती है, वह श्रद्धा है।"

श्रद्धा मानव जीवन का आधार है। आधार के बिना आधेय का अस्तित्व असम्भव है। श्रद्धा मानव-जीवन का केनवास है, उसके बिना विविध रंगों से परिपूर्ण जीवन चित्र को उकेरना अकल्पनीय है। श्रद्धा में प्रेम एवं समर्पण समन्वित हैं। श्रद्धेय के प्रति अलौकिक प्रेम एव नि:स्वार्थ समर्पण श्रद्धालु की सहज वृत्ति है। मनुष्य स्वभाव से श्रद्धालु है। वह मूलत: समाजमय, अर्थमय और काममय नहीं, अपितु श्रद्धामय है – **श्रद्धामयोऽयं पुरुषः।** अपनी मस्तिष्क के भावनाओं के कारण ही वह समाज से तथा लौकिक-अलौकिक शक्तियों से जुड़ा हुआ है। वह जो भी और जैसा भी है, अपनी श्रद्धा के अनुरूप है।

अन्त:करण का निर्माण संस्कारों से होता है और उसी के अनुरूप श्रद्धा होती है। अन्त:करण में जैसे संस्कार रहते हैं, वह वैसा ही बनता है; जैसी श्रद्धा होती है, तदनुसार ही व्यक्तित्व विकसित होता है – **यो यच्छ्रद्धः स एव सः।**

ज्ञानप्राप्ति के लिये श्रद्धावान होना आवश्यक है – **श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्।** जब तक गुरु के प्रति विश्वास, प्रेम, समर्पण और पूज्य बुद्धि नहीं होगी, तब तक ज्ञान का मुक्त आदान-प्रदान सम्भव नहीं है। यह जैविकीय प्रक्रिया है, जो निष्ठा के वातावरण में ही संचालित होती है। श्रद्धारहित जीवन अर्थहीन है। श्रद्धाहीन व्यक्ति जीवित होकर भी मृत है। जो आस्तिकता से ओतप्रोत है, श्रद्धामय और निष्ठावान है, वही परमात्मा का सच्चा भक्त है, वही योगी है। वह परमात्मा के जिस रूप की आराधना करता है, परमात्मा उसी में उसकी अचल श्रद्धा का विधान करते हैं और उसे वे उसी रूप में प्राप्त होते हैं। अश्रद्ध भक्त भगवान को नहीं पा सकता। श्रद्धा के बिना भक्ति निर्जल सरिता है, जिसका मिलन सागर को उद्वेलित नहीं करता।

श्रद्धा अन्धविश्वास नहों, अपितु बुद्धि व तर्क की मजबूत बुनियादों पर टिका ऐसा विश्वास है, जिसका सिंचन विवेक के जल से होता है। श्रद्धा किसी भय से उत्पन्न नहीं होती। आतंकपूर्ण विभीषिकाओं से उसका पल्लवन नहीं होता। विश्वास स्नेह, वात्सल्य और आत्मिक प्रेम की त्रिवेणी से उसे गति एवं पावनता मिलती है। श्रद्धा प्रेम से भिन्न है। प्रेम स्वप्न है, श्रद्धा जागृति है। श्रद्धा समष्टिगत भाव है, प्रेम व्यष्टिगत है। प्रेम में वासना, एकाधिपत्य का भाव, एकान्तिकता, गोपनीयता और प्रतिपल सामीप्य की कामना होती है, जबकि श्रद्धा में यह सब नहीं होता। श्रद्धा कृतज्ञता भी नहीं, क्योंकि कृतज्ञता उपकार का आभार प्रदर्शन है, जबकि श्रद्धा सामाजिक उपकार के प्रति साधुवाद की विनम्र अभिव्यक्ति है। श्रद्धा चापलूसी से दूर है। चापलूसी स्वार्थप्रेरित व स्वार्थसिद्धि तक सीमित व्यक्तिगत दुर्गुण है। श्रद्धा एवं प्रेम का योग भक्ति है। श्रद्धा से आप्लावित अनन्य अनुराग ही भक्ति का स्वरूप है।

श्रद्धेय के गुण एवं सत्कर्म श्रद्धा की उत्पत्ति के कारण हैं। उसकी प्रतिभा, रचनाशीलता और सृजनक्षमता के साथ साधन सम्पत्तियाँ भी श्रद्धा को जगाने में सहायक हो सकती हैं, परन्तु इन सबसे श्रेष्ठ कारक सत्कर्म तथा सद्‌गुण है, जिनकी समाज को प्राथमिक आवश्यकता है। जिसके बिना उसका आधारस्वरूप और संगठन ही विध्वस्त हो सकता है। व्यक्ति की आन्तरिक प्रवृत्ति के कारण श्रद्धा भी सात्त्विक, राजसी तथा तामसी होती है। सात्त्विक वृत्तियों के उदय के परिणामस्वरूप होनेवाली निष्काम सात्त्विकी श्रद्धा से व्यक्ति सर्वमांगल्य के लिये भगवान की पूजा करता है। राजसी और तामसी में निजी कामनाओं की पूर्ति के लिये, परपीड़नार्थ शक्ति-अर्जन हेतु अधम योनियों की पूजा होती है। दान व तप यदि सात्त्विक श्रद्धा से किया जाता है, तब तो वह सत्कर्म है, उसका सुफल होगा, अन्यथा वह असत्कर्म है, पाप है, उसका कुफल भी अवश्य भोगना होगा।

श्रद्धेय के प्रति ईर्ष्या या स्पर्धा का भाव नहीं होता। श्रद्धा में घृणा का भी कोई स्थान नहीं। श्रद्धेय के प्रति समर्पित श्रद्धा उसके जीवन-मूल्यों की साधना का समाज के द्वारा दिया गया मूल्य है, जिसकी पुकार प्रत्येक जन के द्वारा अनिवार्य है। जो गुरुजन हैं; आयु, पद, ज्ञान आदि की दृष्टि से जो अपने श्रेष्ठ हैं, जिनसे व्यष्टि या समष्टि के रूप में हम उपकृत हुए हैं, उनके प्रति हमारे मन में श्रद्धा का होना जरूरी है। जो अज्ञ, श्रद्धाहीन व संशयशील हैं, उनका अतिशीघ्र विनाश होता है। लोक-परलोक में कहीं भी उन्हें गति नही मिलती। ❑❑❑

राष्ट्रीय एकता में संस्कृत का महत्व

प्रज्ञाभारती डॉ. श्रीधर भास्कर वर्णेकर

भारत स्वाभाविक रूप से ही एक अखण्ड देश है। इसके पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण दिशाओं में समुद्रवलय ने और उत्तर दिशा में नगाधिराज हिमालय ने अनादिकाल से इसकी सीमाएँ निर्धारित कर दी हैं। इस प्राकृतिक एकता का साक्षात्कार संस्कृत के पुराण-वाङ्मय तथा कालीदास आदि महामुनियों के श्रेष्ठ महाकाव्यों में अनेक वचनों में हुआ है। यथा –

उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती तस्य संततिः ।।
हिमालयात् समारभ्य यावद् इन्दुसरोवरम्।
तं देवनिर्मितं देशं हिन्दुस्थानं प्रचक्षते ।।
नवयोजनसाहस्त्रो विस्तारोऽस्य महामुने।
कर्मभूमिरियं स्वर्गम् अपवर्गं च गच्छताम् ।।
हिमालयाद् आसमुद्रं पुण्यक्षेत्रं च भारतम्।
श्रेष्ठं पर्वस्थलानां च मुनीनां च तपःस्थलम् ।।

इस देश के पुत्ररूप समाज के अन्तःकरण में सम्पूर्ण राष्ट्र के पर्वतों तथा नदियों के प्रति जो उदात्त भक्तिभावना दृढ़मूल हुई है, उसका दर्शन वेदों के नदीसूक्तों, पुराण के सहस्रावधि क्षेत्र-माहात्म्यों तथा इन सर्वपरिचित श्लोकों में सुस्पष्ट रूप में दिखाई देता है –

महेन्द्रो मलयः सह्यः शक्तिमान् ऋक्षपर्वतः।
विन्ध्यश्च परित्रायश्च सप्ताऽत्र कुलपर्वताः ।।
गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ।।

इन दोनों श्लोकों में निर्दिष्ट पर्वत तथा उनकी कन्यास्वरूप नदियों के प्रति भक्तिभाव सम्पूर्ण भारत की अन्तर्निहित एकता का द्योतक है। पर्वत और नदियाँ प्रायः भूभाग को विभाजित करते हैं, परन्तु उनके प्रति सम्पूर्ण भारत की श्रद्धा-भक्ति के कारण ही वे भारत की समग्र जनता की एकात्मकता के केन्द्र-बिन्दु हुए हैं। इन प्रमुख नदियों की गोद में बसे हुए अगणित तीर्थों में भारतमाता के सभी प्रदेशों के निवासी अपार संख्या में स्वतः प्रेरणा से सदियों से एकत्र होते रहे हैं। उन्हें किसी के निमंत्रण की आवश्यकता नहीं होती। तीर्थराज प्रयाग में कुम्भपर्व के विराट् मेले में **यत्र विश्वं भवति एकनीडम्** – वेद के इस एकात्मता मंत्र का साक्षात्कार होता है। ऐसे पवित्र तीर्थों में भारतीय समाज की बहुरंगी विविधता के अन्तरंग में चमकने वाली श्रद्धामूलक एकता असंख्य दीपकों के एकीभूत प्रकाश के या अनन्त वनपुष्पों के एकीभूत सुगन्ध के समान सभी के अनुभव का विषय है। उसे युक्तिवादों से सिद्ध करने की जरूरत नहीं है। शास्त्र कहता है कि – **न निर्णिते अर्थे न्यायः प्रवर्तते** – अर्थात् जिस विषय का प्रत्यक्ष अनुभव के कारण निर्णय हो जाता है, उसे सिद्ध करने के लिये अनुमान, आप्त वाक्य आदि प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं होती। भारत की विविधता में विद्यमान एकता, अग्नि की उष्णता या सूर्य की प्रभा के समान प्रत्यक्ष सिद्ध है।

वैदिक ऋषियों ने आसेतु-हिमालय विविध प्रदेशों में निवास करनेवाले विविध प्रकार लोगों के चित्त में इस समग्र भारतभू के अणु-रेणु के प्रति जिस अपार भक्तिभाव का निर्माण किया है, वही इस प्रत्यक्षसिद्ध एकता का मूल है। उसकी झलक इन वैदिक मंत्रों तथा पौराणिक हृद्य पद्यो में दिखाई दे जाती है –

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः ।।
सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः।। (वेद)
यतो हि कर्मभूरेष ततोऽन्या भोगभूमयः।
अत्र जन्मसहस्त्राणां सहस्त्रैरपि सत्तम ।।
कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसंचात्।
दुर्लभं भारते जन्म मानुषं तत्र दुर्लभम् ।।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।
शतजन्म तपः कृत्वा जन्मेदं भारते भवेत् ।।
हिमालयादासमुद्रं पुण्यक्षेत्रं च भारतम्।
श्रेष्ठं पर्वस्थलानां च मुनीनां च तपःस्थलम् ।।
गायन्ति देवा किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारत-भूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्ग-भूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ।।

भारतभक्ति के ये भावरम्य स्तोत्र मानो हमारे आर्ष राष्ट्रगीत ही हैं, जिसका सावेश आविष्कार श्री बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के **वन्देमातरम्** - शीर्षक आधुनिक राष्ट्रगीत में हुआ। हमारा यह राष्ट्रगीत – **वन्देमातरम्** संस्कृत के पुरातन साहित्य में ही सर्वप्रथम प्रकट हुए उत्कट देशभक्तिमय उद्‌गारों का अधुनातन संस्करण है। इस गीत का पूरा भाव प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में बिखरे हुए देशभक्तिमय भाव-कणिकाओं से साकार हुआ है। इसी कारण उसमें पराधीनता के तमोयुग के दौरान समग्र भारतीय समाज को प्रबुद्ध करने की अद्‌भुत शक्ति उत्पन्न हुई। वैदिक ऋषियों के दिव्य मंत्रों द्वारा अनुप्राणित और पुराणकार कवियों ने ललित पद्यों द्वारा प्रतिध्वनित मातृभूमि के प्रति उदात्त भक्तिभावना हमारी सुरभारती का स्तन्यामृत है। भारतीय समाज जब तक संस्कृत भाषा तथा वाङ्मय से अपनी जिज्ञासा की तृप्ति करता रहा, तब तक इस पुरातन राष्ट्र में एकात्मता का स्पन्दन कभी खण्डित तथा कुण्ठित नहीं हुआ।

विदेशी आक्रान्ताओं के राजकीय आधिपत्य के दुर्दिनों में भी संस्कृत वाग्देवी के इसी दिव्य स्तन्यामृत ने वर्ण, जाति,

पन्थ, भाषा आदि विविधताओं के बीच भी बहुविध भारतीय जनमन को एक बनाये रखा। भारत की एकता तब तक संकटग्रस्त नहीं हुई, जब तक यहाँ का शिक्षित समाज संस्कृत भाषा तथा वाङ्मय के अध्ययन से विमुख नहीं हो गया।

हर विदेशी आक्रान्ता अपने जितराष्ट्र को प्रज्ञाहत करने के प्रयास अवश्य करता है। उन प्रयासों में जितराष्ट्र की परम्परा-प्राप्त संस्कृति को निष्प्रभ या नष्ट करने की चेष्टा प्रमुख रहती है। किसी भी राष्ट्र की भाषा ही उसके सांस्कृतिक चेतना का प्राण होती है। **संस्कृत भाषा** ही भारत की राष्ट्रीय संस्कृति का प्राण है। सिद्धप्रज्ञ मनीषियों के द्वारा संस्कृत भाषा में रचित ग्रन्थों में ही इस राष्ट्र की परम्परागत चौदह विद्याओं व चौसठ कलाओं का पवित्र ज्ञान प्रकट हुआ। अत: नि:सन्देह **संस्कृत** ही इस अखण्ड राष्ट्र की सम्पूर्ण सांस्कृतिक परिभाषा है।

पुराकाल में संस्कृत से उत्पन्न पाली, अर्धमागधी, महाराष्ट्री आदि विविध अपभ्रंश भाषाओं का उपयोग हुआ है। इन्हीं संस्कृतोत्पन्न भाषाओं में कालक्रम आदि कारणों से परिवर्तन होते होते आज की हिन्दी, बँगला, मराठी, मलयालम आदि सभी प्रादेशिक भाषाएँ विकसित हुईं। इन प्रादेशिक भाषाओं की भी अनेक उपभाषाएँ प्रचलित है। इन सभी भाषाओं में ७०% से भी अधिक संस्कृत के तत्सम व तद्भव शब्द प्रयुक्त होते हैं। इन प्रादेशिक भाषाओं के शब्दकोषों से उद्धृत संस्कृत शब्दों के कोष-निर्माण से इस बात को सिद्ध किया जा सकता है। संविधान द्वारा मान्य सभी प्रादेशिक भाषाएँ संस्कृतमूलक हैं, अत: उनके विकास की आवश्यकता संस्कृत के आधार पर ही पूर्ण हो सकती है। इसके तीन कारण हैं – १. संस्कृत भाषा में स्वाभाविक रूप से नये सार्थक शब्दों के निर्माण की स्वयंभू क्षमता है, जो किसी भी प्रादेशिक बोली में नहीं है। २. संस्कृत के व्याकरण शास्त्र ने ऐसे अर्थपूर्ण निर्माण करने की शास्त्रीय प्रक्रिया प्राप्त है और ३. ऐसे नवनिर्मित शब्दों का सभी प्रादेशिक भाषाओं में 'साम्य' होता है अर्थात् संस्कृत व्याकरण की प्रक्रिया से निर्मित नयी शब्दावली, सभी प्रादेशिक भाषाओं में स्वकीय शब्दावली के समान स्वीकृत हो सकती है और कुछ मात्रा में हुई भी है।

लौकिक व्यवहार में सदा प्रादेशिक भाषाओं का महत्त्व रहा है और आगे भी रहेगा, किन्तु वैज्ञानिक, शास्त्रीय, शासकीय, आर्थिक आदि उच्च स्तर के उपयोग हेतु सामान्य पारिभाषिक शब्दावली की जरूरत संस्कृत व्याकरण तथा उसके प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर निर्मित नवीन शब्दों द्वारा ही पूरी हो सकेगी। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण भारत की भाषिक एकता के लिये और उस एकता में 'विशुद्ध भारतीयता' का सत्त्व बनाये रखने के लिए संस्कृत भाषा की सहायता लेनी ही होगी।

हिन्दी, मराठी, तेलुगु, गुजराती आदि प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य के पन्ने पलटने पर हमें भारत की सांस्कृतिक एकता में संस्कृत के योगदान के सबसे स्पष्ट निदर्शन प्राप्त होते हैं। भारत की सभी प्रादेशिक भाषाओं के काव्य, नाटक, कथा आदि के सभी प्रारम्भिक ग्रन्थों का आधार संस्कृत का पुराण-इतिहास-साहित्य ही है। रामायण तथा महाभारत रूपी इतिहास और १८ पुराणों के काव्यात्मक आख्यानों के अनुवादों और उन्हीं पर आधारित स्वतंत्र काव्य-ग्रन्थों से सारा प्रादेशिक साहित्य परिपुष्ट हुआ है। संस्कृत भाषा और साहित्य ही उनकी भाषा, छन्द, अलंकार, रस आदि सबका आधार है।

इसी प्रकार आधुनिक युग में महत्त्वपूर्ण वैचारिक योगदान देनेवाले महर्षि दयानन्द सरस्वती, युगाचार्य विवेकानन्द, कविगुरु रवीन्द्रनाथ, लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, राजगोपालाचारी, योगी अरविन्द, डॉ॰ राधाकृष्णन् आदि अनेक महा-मनीषियों की विचार-सम्पदा का मूलधन संस्कृत ग्रन्थ ही हैं। उपनिषदों तथा गीता ने इन सबकी विचारधारा को अध्यात्म-प्रवण किया है। उनके ग्रन्थ पूरे विश्व को भौतिकवाद की मृत्यु से बचाने हेतु अध्यात्म-निष्ठा का अमृत बाँट रहे हैं। संस्कृत के आध्यात्मिक ग्रन्थों से प्राप्त उदात्त वैश्विक विचारों के कारण ही वैचारिक जगत् में भारत की प्रतिष्ठा बढ़ी है। अत: हम कह सकते हैं –

तावदेव प्रतिष्ठा स्यात् भारतस्य महीतले।
ज्ञानामृतमयी यावत् सेव्यते सुरभारती।।

ऐतिहासिक शिलालेख भी भारत की एकता के महत्त्वपूर्ण प्रमाण हैं। अँग्रेजी शासन के दौरान इतिहासविदों का ध्यान पूरे देश में बिखरे शिलालेखों तथा ताम्रपटों की ओर आकृष्ट हुआ था। सैकड़ो लेखों का अध्ययन हुआ, जिनमें सर्वाधिक संस्कृत में हैं। उनकी लिपि ब्राह्मी है, जो संस्कृत-लेखन में अधिकांशत: प्रयुक्त देवनागरी का मूल आधार है। भारत की सभी लिपियाँ उच्चारण का अनुसरण करती हैं। यह हमारी लिपियों की एक खास विशेषता है। संसार में अन्यत्र कहीं भी ऐसी वैज्ञानिक लिपि नहीं है। भारत में कुछ प्रादेशिक भाषाओं की अपनी लिपियाँ भी हैं। संस्कृत के अनभिज्ञ शिक्षित लोग प्रादेशिक लिपियों का उपयोग करते हैं; पर सभी प्रदेशों के संस्कृतज्ञ देवनागरी में लेखन-वाचन की क्षमता रखते हैं। यह वस्तुस्थिति भारत की संस्कृतमूलक एकता का अच्छा प्रमाण है।

भारतीय समाज प्रधानत: धर्मप्रवण है। धार्मिक व्रत, उत्सव, मूर्तिपूजा, संस्कार-विधि, श्रौत-स्मार्त यज्ञ, श्राद्ध आदि का प्राबल्य असंख्य पारिवारिक विधियों तथा सामाजिक उत्सवों में सतत दीख पड़ता है। इन सभी धार्मिक कृत्यों में प्रयुक्त श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त मंत्रों, सूक्तों तथा स्तोत्रों की भाषा संस्कृत है। संस्कृत के इस ह्रासकाल में भी राष्ट्र की एकात्मकता की दृष्टि से उसका महत्त्व नकारा नहीं जा सकता। यह इस संस्कृत-मूलक राष्ट्र की एकता का एक प्रबल प्रमाण है।

अब तक हुए विवेचन का सरांश यह है कि संस्कृत वाङ्मय रूपी कोष भारत के अपने ज्ञानधन से भरा हुआ है। संस्कृत भाषा ही सभी प्रादेशिक भाषाओं की जन्मदात्री एवं पोषक धात्री है। विविध जाति-पातियों, पन्थ-सम्प्रदाओं, पक्ष-उपपक्षों से युक्त भारतीय समाज के अन्त:करण में संस्कृत के साथ आत्मीयता है और वह श्रद्धामूलक भी है।

किसी बहुभाषी राष्ट्र में जब भाषामूलक विच्छेद बढ़ने लगे, तो वहाँ के सभी भाषाभाषी लोगों को जोड़नेवाली किसी प्रौढ़, प्रगल्भ तथा साहित्य की दृष्टि से समृद्ध निजी भाषा की ओर समाज का ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक होता है। भाषा-भेद के कारण राजकीय दृष्टि से विच्छिन्न हुए यूरोपीय समाज में एकता का निर्माण करने का प्रयास करनेवाले यूरोप के मनीषी जनता का ध्यान लैटिन भाषा की ओर आकर्षित करने का प्रयास करते हैं; विविध उपायों से उसके अध्ययन को प्रोत्साहित करने का प्रयास करते हैं और उसे अंग्रेजी, जर्मन, फ्रांसीसी आदि प्रादेशिक भाषाओं के अध्ययन-क्रम में स्थान देते हैं। इसी प्रकार वे चित्रपट आदि आधुनिक प्रचार माध्यमों का सहारा लेते हैं। 'वी यूरोपियन्स' जैसे यूरोपीय एकात्मता जगाने वाले पुस्तकों में भी उस भूखण्ड की मूलभूत विदग्ध भाषा लैटिन का महत्त्व प्रतिपादित हुआ है। भाषिक दृष्टि से विभाजित यूरोपीय समाज में एकता के लिये लैटिन का जो महत्त्व है, उससे कई गुना अधिक महत्त्व संस्कृत का भारतवासियों के जीवन में पहले से था और आज भी है। इसी महत्त्व के कारण पाली-प्राकृत को धर्मप्रचार के निमित्त अपनानेवाले बौद्ध और जैन सम्प्रदाओं ने भी प्रभूत मात्रा में संस्कृत भाषा में उत्तम ग्रन्थ रचे। बौद्ध-जैन संस्कृत-साहित्य, समग्र संस्कृत साहित्य का एक प्रमुख अंग माना जाता है। इस तथ्य को देखनेवाला कोई भी विवेकी व्यक्ति ऐसा संकुचित उद्गार नहीं निकालेगा कि 'संस्कृत केवल ब्राह्मणों की भाषा है'। इस भ्रामक आक्षेप का खण्डन करने को प्राचीन व अर्वाचीन काल में हुए अब्राह्मण संस्कृत-साहित्यकारों की सुदीर्घ सूची प्रस्तुत की जा सकती है, किन्तु इस लेख में वह अप्रासंगिक है।

दुर्भाग्यवश आज इसमें कुछ बाधा आयी है, जो भारतीय एकात्मता की प्रक्रिया में बाधा है। स्वराज्य के उदयकाल से हमारे राष्ट्र-जीवन के विविध अंगों पर अनेक विपत्तियाँ आयीं। उसमें सांस्कृतिक अंगों पर आयी हुई सबसे बड़ी विपत्ति यही है कि हमारे नवशिक्षित बान्धवों के आचार-विचार, भाषा तथा वेशभूषा में बड़ी तेजी से विदेशी प्रभाव बढ़ता जा रहा है।

इस राष्ट्र से अँग्रेज चले गये, परन्तु अपने साथ लायी हुई अँग्रेजीयत छोड़ गये। स्वाधीनता के बाद से तो उसमें दिन-दूनी रात-चौगूनी वृद्धि होती दिखायी देती है। विदेशी भावों के अनुसरण में कोई विवेक नहीं रहा। इसी के फल से संस्कृत के ह्रास की गति भी बढ़ गयी। अँग्रेजों के विदेशी शासन के सौ-सवा सौ वर्षो के दौरान संस्कृत भाषा के प्रभाव एवं प्रचार का जितना ह्रास हुआ था, उससे कई गुना अधिक स्वराज्य के केवल ४० वर्षों में हुआ। यह स्वदेशी शासन पर एक लांछन है। इससे देश के सांस्कृतिक स्वास्थ्य और स्वत्व की चिन्ता करनेवाले सभी देशभक्त अति व्यथित हुए हैं। इसका यहाँ केवल एक ही उदाहरण प्रस्तुत करना हम उचित समझते हैं।

श्री गिरिलाल जैन १८ वर्षों तक सुविख्यात आंग्ल दैनिक 'टाइम्स ऑफ इंडिया' के सम्पादक रहे। दिल्ली के पाञ्चजन्य साप्ताहिक के २६ जनवरी, १९९० के गणराज्य दिवस विशेषांक में (पृ. १४-१५) वे कहते हैं, "मैं अँग्रेजी माध्यम से पढ़ा। हमारे बच्चे भी अँग्रेजी माध्यम से ही पढ़ते हैं। ... फलत: देश में कई दिक्कतें पैदा हुईं और ये दिक्कतें आनेवाले समय में और बढ़ेगीं। जब तक हम संस्कृत का अध्ययन नहीं करेंगे, हमारा भला नहीं होगा। जिस देश में अपनी संस्कृति के बारे में चेतना नहीं, वहाँ तो दिक्कतें-ही-दिक्कतें पैदा होंगी।" वर्तमान परिस्थिति से दीर्घकाल तक नित्य सम्बन्ध रखते हुए प्रतिदिन उस पर टीकाकर्ता एक श्रेष्ठ सम्पादक के ये उद्‌गार सभी विचारकों की भावना समुचित रूप से व्यक्त करते हैं।

संस्कृत की आज जो सर्वांगीण ग्लानि हुई है, उसे रोककर उसमें फिर से चेतना जगाना आज का एक अत्यावश्यक राष्ट्रीय कर्तव्य है। देश में अनेक संस्कृत प्रचारक संस्थाओं के माध्यम से कुछ निष्ठावान कार्यकर्ता इस कार्य में यथाशक्ति

पुरखों की थाती (६)

आत्मैव परमं तीर्थं मुक्तिक्षेत्रं सनातनम्।
त्रितापहारिणी यत्र मुक्तिगङ्गा विराजते।।

– अपने हृदय में स्थित आत्मा ही वह परम सनातन तीर्थक्षेत्र है, जहाँ तीनों तापों का हरण करनेवाली मुक्ति-रूपी गंगा सतत प्रवाहित हो रही हैं।

आत्मतीर्थं समुत्सृज्य बहिस्तीर्थानि यो व्रजेत्।
करस्थं च महारत्नं त्यक्त्वा काचं विमार्गते॥

– जो व्यक्ति आत्मा रूपी इस महातीर्थ की उपेक्षा करते हुए बाह्य तीर्थों का परिभ्रमण करता रहता है, वह मानो अपने हाथ के महारत्न को फेंककर कांच के टुकड़ों की खोज में भटकता रहता है।

– *जाबाल-दर्शन-उपनिषद्*

योगदान कर रहे हैं। इन्हीं प्रयत्नों से आज यत्र-तत्र संस्कृत का अस्तित्व दीख पड़ता है। शासन की ओर से इस कार्य में कोई बाधा नहीं है; किन्तु विशेष प्रोत्साहन भी दिखाई नहीं देता। कुछ राज्य-सरकारों में उदासीनता का आधिक्य होने के कारण वहाँ की शिक्षा में संस्कृत-अध्ययन का स्थान नहीं के बराबर रहा है। उदाहरणार्थ, महाराष्ट्र में ऐसे सैकड़ों विद्यालय हैं, जिनमें संस्कृत के अध्ययन की कोई सुविधा नहीं है।

भारत की सांस्कृतिक एकता में वृद्धि की दृष्टि से प्रत्येक विद्यालय-महाविद्यालय में संस्कृत के अध्यापन की समुचित व्यवस्था अवश्य होनो चाहिये। संस्कृत-कार्यकर्ताओं के सभी सम्मेलनों में प्रस्तावों के रूप में कुछ अपेक्षाएँ शासन को भेजी जाती हैं। उन प्रस्तावों पर सरकार द्वारा सहानुभूतिपूर्वक विचार होना आवश्यक है। अनुभव यह है कि उनकी सर्वथा उपेक्षा होती है। उन माँगों में संस्कृत भाषा के अध्ययन को शिक्षा-प्रणाली में अनिवार्य बनाने की एवं तथाकथित त्रिभाषा सूत्र पर पुनर्विचार करने की माँग उपेक्षणीय नहीं है।

मध्यप्रदेश, राजस्थान तथा उत्तरप्रदेश जैसे कुछ प्रान्तों में शासन की सहायता से 'संस्कृत अकादमी' की स्थापना हुई है; पर कुछ प्रान्तों में वैसी संस्था की स्थापना नहीं हुई है। अपेक्षा यही है कि शासन द्वारा प्रत्येक राज्य में 'संस्कृत अकादमी' या वैसी संस्था स्थापित की जाय और उसके माध्यम से समाज के सांस्कृतिक अभाव को दूर करने हेतु तरुण वर्ग के लिये बार बार नाट्यस्पर्धा, वक्तृस्पर्धा, निबन्धस्पर्धा, अन्ताक्षरी, काव्य-गोष्ठी आदि कार्यक्रमों का आयोजन हो।

संस्कृत का पारम्परिक पद्धति के अनुसार अध्ययन प्राचीन काल से पाठशालाओं के माध्यम से चलता आया है। इन पाठशालाओं की शिक्षा-पद्धति में कालोचित परिवर्तन करने तथा उनकी शोचनीय दशा में समुचित सुधार करने की परम आवश्यकता है। आज पाठशालाओं के संचालक-मण्डल के सदस्य भी उनके प्रति उदासीन हैं। दु:ख इस बात का है कि अनेक संस्कृत पाठशालाओं का स्वरूप अनाथालय जैसा हो गया है। इस कारण उन्हें किसी प्रकार की मान्यता या प्रतिष्ठा नहीं है। पाठशाला के छात्र दया के पात्र माने जाते हैं। इस परिस्थिति को बदलने के लिये सभी पाठशालाओं का संचालन शासकीय संस्कृत अकादमियों को सौंपा जाय और साथ ही सभी प्रादेशिक अकादमियों में सुसूत्रता स्थापन करने के लिये एक केन्द्रीय 'अकादमी संयोजक समिति' की स्थापना की जाय जिसमें प्रत्येक प्रादेशिक अकादमी के सचिव पदेन सदस्य रहें। संस्कृत के अध्ययन को महत्त्व न दिये जाने का प्रमुख कारण आज के अर्थप्रधान जीवन-प्रणाली में संस्कृत की उच्चतम उपाधि भी धन या मान नहीं देती (जिसकी अपेक्षा सामान्य मानव स्वभावत: करता है)। माध्यमिक शाला या महा-विद्यालय के अध्यापक पद के अतिरिक्त अन्यत्र कोई वैतनिक सेवापद संस्कृत-स्नातकों को मिलना सम्भव नहीं है। ऐसे माध्यमिक या उच्च विद्यालयों की संख्या देश भर में भी काफी बड़ी है, जहाँ संस्कृत अध्यापन का प्रबन्ध नहीं है। पर ये स्थान भी संस्कृत स्नातक के लिये दुष्प्राप्य हैं। इस अवस्था को बदलने के लिये दो नियम पारित करने की जरूरत है – १. हर मान्यताप्राप्त विद्यालय में संस्कृत स्नातक की नियुक्ति तथा संस्कृत अध्ययन की सुविधा अवश्य हो। २. संस्कृत स्नातकों के लिये किसी विशिष्ट शासकीय विभाग में सेवापद आरक्षित हों। संस्कृत भाषा तथा विद्याओं के सांस्कृतिक महत्त्व को ध्यान में रखकर क्या यह उचित नहीं होगा कि भारत सरकार के दूतावासों में सेवापद प्राप्त करने के लिये संस्कृत की उच्च उपाधि अनिवार्य कर दी जाय? संस्कृत शिक्षा को इस तरह का आरक्षण मिले, तो बुद्धिमान छात्र संस्कृत के अध्ययन में प्रवृत्त होंगे और उनकी विशिष्ट योग्यता तथा प्रतिष्ठा के कारण संस्कृत की भी प्रतिष्ठा बढ़ सकेगी।

अँग्रेजी शिक्षा के आरम्भिक काल में तत्कालीन छात्रों में रुग्ण-शुश्रूषा (नर्सिंग), पशु-चिकित्सा जैसे विषयों का अध्ययन करने की प्रवृत्ति नहीं थी। अत: इन विषयों के प्रति छात्रों को प्रवृत्त करने के लिये तत्कालीन शासनाधिकारियों ने नि:शुल्क अध्ययन, छात्रवृत्ति आदि सुविधाओं की व्यवस्था की थीं। आज भी संस्कृत से विमुख छात्रों को उसके अध्ययन की ओर प्रवृत्त करने के लिये यह उपाय अनुकरणीय है।

आचार्य विनोबाजी भावे ने संस्कृत-शिक्षा की योजना में एक मार्मिक सुझाव दिया था। त्रिभाषासूत्र में हेरफेर न करते हुए भी इसे अपनाये जाने से नयी पीढ़ी में संस्कृत का ज्ञान बढ़ने की सम्भावना है। विनोबाजी का कहना है कि हर छात्र को उसकी प्रादेशिक भाषा के अध्ययन के साथ 'शब्द-सिद्धि' का भी ज्ञान देना चाहिये। जिन प्रादेशिक या पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग पाठ्यपुस्तकों में हुआ है; उन शब्दों के धातु, प्रत्यय, उपसर्ग आदि का परिचय देते हुए उसके निर्माण में गुण, वृद्धि, ह्रस्व, दीर्घ आदि जो भी विकार हुए होंगे, उनका नियमसहित ज्ञान देने से छात्र का संस्कृत-ज्ञान अनायास ही बढ़ सकेगा। इसका मुख्य कारण यह है कि सभी प्रदेशों की साहित्यिक भाषाओं में संस्कृत शब्दों का अनुपात ७०% से भी अधिक है। व्यवहार में प्रयुक्त अनेक शब्द तत्त्वत: संस्कृत ही हैं; यथा चन्द्र, सूर्य, आकाश, भगवान, नदी, पर्वत, माता, पिता, संस्था, परिषद, देश, राष्ट्र, राज्य, मन्त्री, राष्ट्रपति आदि। परन्तु इसका भान नयी पीढ़ी को नहीं है। विनोबाजी की प्रस्तुत सूचना के अनुसार 'शब्द-सिद्धि' का ज्ञान प्रादेशिक भाषा के अध्ययनक्रम में अनिवार्य किया जायेगा, तो भी नयी पीढ़ी को पर्याप्त मात्रा में संस्कृत का परिचय मिल सकेगा।

भारत के विभिन्न स्थानों में संस्कृत की उच्च परीक्षाओं के स्नातकों को शास्त्री, आचार्य, विद्वान्, शिरोमणि आदि उपाधियाँ

दी जाती है। उन सभी उपाधियों की परीक्षाओं के अध्ययन-स्तर में समानता और बी.ए., एम.ए. जैसी उपाधियों में एक-रूपता लाना अत्यावश्यक है। आज की उपाधियों में भेद के कारण कुछ समस्याएँ पैदा हुई हैं। इस कार्य के लिये एक स्वतंत्र उच्चाधिकार समिति का गठन होना आवश्यक है।

दिल्ली आकाशवाणी केन्द्र से जब संस्कृत भाषा में समाचार का प्रसारण आरम्भ हुआ, तो भारत के सभी प्रदेशों के लाखों श्रोताओं ने स्वत:प्रेरणा से पत्र भेजकर सरकार का अभिनन्दन किया था। यह समाचार उस समय के अखबारों में प्रकाशित हुआ था। आज केवल केन्द्रीय आकाशवाणी पर प्रात:काल और सायंकाल ५-५ मिनट का समय संस्कृत समाचारों के लिये दिया जाता है। अपेक्षा यह है कि आकाशवाणी के हर प्रादेशिक केन्द्र से प्रतिदिन इसी प्रकार ५-५ मिनट का समय संस्कृत में प्रादेशिक समाचारों को भी दिया जाय। इससे कुछ हद तक सर्वत्र संस्कृत का प्रचार बढ़ेगा। संस्कृत के उच्चारण में समरूपता लाने के लिये आज इस योजना की विशेष आवश्यकता है।

स्वधीनता के बाद से हमारे तरुणों में विदेश जाने की प्रवृत्ति तीव्रता से बढ़ी है। संस्कृत विद्या से अपरिचित छात्र विदेशी समाज में उपहास के पात्र होते हैं, यह एक शोचनीय अनुभव है। इन विदेशगामी छात्रों तथा अन्य अधिकारियों से संस्कृत की एक विशिष्ट प्रवेश-परीक्षा पास कराना आवश्यक है। साथ ही भारतीय दूतावासों के सभी अधिकारियों का भी संस्कृत विद्या से परिचित होना जरूरी है।

विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह, स्नातकों के प्रमाणपत्र, संसद में राष्ट्रपति का उद्‌घाटन-भाषण, विधायिकाओं में राज्यपालों के भाषण, गोपनीयता के शपथ आदि राष्ट्रीय महत्त्व के विषयों में संस्कृत भाषा का उपयोग का आग्रह होना चाहिये। इससे हमारा राष्ट्र एकता की दिशा में प्रगति करेगा और संस्कृत के प्रति जनता में आदर बढ़ेगा।

संस्कृत साहित्य में मानव-विज्ञान, तत्त्वज्ञान, कला, शिल्प आदि विविध शास्त्रों से सम्बन्धित ग्रन्थों में उन शास्त्रों के हजारों पारिभाषिक शब्द मिलते हैं। संस्कृत-स्नातकों के साहित्य के अलावा इन विविध शास्त्रीय ग्रन्थों के अध्ययन से वंचित रहने के कारण और नये शास्त्रीय विषयों के नवशिक्षित प्राध्यापकों के संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण हमारे विद्याक्षेत्र में एक जटिल समस्या पैदा हुई है। उसका निवारण दो उपायों से होना आवश्यक है – १. विविध शास्त्रीय ग्रन्थों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली का कोष के रूप में ग्रथन और २. इन शास्त्रीय विषयों के विद्यार्थी (और अध्यापकों के लिये भी) उनके अध्ययन के विशिष्ट शास्त्र से सम्बन्धित संस्कृत के किसी प्रमाणभूत ग्रन्थ का अध्ययन (नागपुर विश्वविद्यालय में अँग्रेजी साहित्य के स्नाकोत्तर छात्रों के लिये साहित्य-दर्पण का आंग्ल अनुवाद पाठ्य-पुस्तक के रूप मे निर्धारित था)। इस उपाय से संस्कृत के शास्त्रीय ज्ञान की उपेक्षा दूर होगी और नवशिक्षितों में अपनी राष्ट्रीय विद्या के प्रति अभिमान जागेगा।

अभी तक सम्पूर्ण देश में केवल छ: केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालयों द्वारा उच्च कोटि के संस्कृत शास्त्रों के अध्ययन की व्यवस्था केन्द्र शासन ने की है। शासन का यह कार्य सर्वथा अभिनन्दनीय है, किन्तु संस्कृत भाषा एवं विद्या के माध्यम से सम्पूर्ण देश में एकता की वृद्धि करने की दृष्टि से केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालयों की संख्या तथा उनके छात्रों की संख्या में वृद्धि होना आवश्यक है। अपेक्षा यह है कि आगामी पंचवार्षिक योजनाओं में प्रत्येक राज्य में कम-से-कम एक केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना हो। साथ ही इन विश्वविद्यालयों में ऐसी स्वत्वनिष्ठ शिक्षा-प्रणाली प्रचलित हो जिससे इस देश के छात्र स्वाभिमानशून्य और पर-अनुकरणशील न हों। जिस शिक्षा-पद्धति से राष्ट्र के नवयुवक स्वाभिमानहीन और परानुकरण-प्रवण होते हैं, ऐसी शिक्षा-प्रणाली राष्ट्रघातक होती है। किसी भी राष्ट्र की शिक्षा-प्रणाली में यह दोष नहीं होना चाहिये। दुर्भाग्य से भारत की वर्तमान शिक्षा-प्रणाली विदेशी शासकों द्वारा प्रचलित होने के कारण उसमें यह दोष पूरी मात्रा में विद्यमान है।

छात्रों को संस्कृत-अध्ययन की ओर प्रोत्साहित करने की दृष्टि से आज संस्कृत के अध्यापकों की योग्यता का स्तर ऊँचा करना विशेष आवश्यक है। इस दिशा में मुम्बई के 'सोमैया सुरभारती' के संचालक श्रीमान् करमसी भाई सोमैया ने कुछ वर्षों तक अपने निजी व्यय से महाराष्ट्र के माध्यमिक विद्यालयों के संस्कृत-अध्यापकों के लिये एक माह के प्रशिक्षण शिविर का आयोजन किया था। यह उपक्रम अनेक दृष्टियों से सराहनीय रहा। राज्य शासन की ओर से संस्कृत अकादमी या उसी प्रकार की प्रान्तीय संस्था के द्वारा इस प्रकार के संस्कृत-अध्यापक-प्रशिक्षण-शिविरों का आयोजन कई दृष्टि से लाभदायक सिद्ध होगा। दुर्भाग्य से यह कार्य उपेक्षित रहा है।

संस्कृत के सार्वत्रिक प्रचार की दृष्टि से सर्वत्र जिसकी आवश्यकता प्रतीत होती है ऐसा और एक सुझाव देकर हम यह निवेदन समाप्त करेंगे। आजकल संसार की सभी भाषाओं के सचित्र, सुन्दर और सुबोध बालोपयोगी पुस्तकें एवं साप्ताहिक-मासिक पत्रिकाएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं और उनका प्रचार भी सर्वत्र दीख पड़ता है। विदेशों में केवल बालोपयोगी सुन्दर पुस्तकों के प्रदर्शन भी विराट् स्तर पर आयोजित होते हैं।

इस दृष्टि से संस्कृत में अब तक कोई भी उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ है। इस दिशा में शासकीय तथा अशासकीय – दोनों माध्यमों से प्रयास होना आवश्यक है। ❑❑❑

देवी-अपराध-क्षमापन-स्तोत्रम्

गया प्रसाद शर्मा 'याचक'

(व्यक्ति अपने दोषों तथा अपराधों के लिए देवी से कैसे क्षमा-याचना करे – इसी की शिक्षा देते हुए आदि शंकराचार्य ने संस्कृत भाषा में 'देवी-अपराध-क्षमापन-स्तोत्रम्' नाम से एक सुमधुर स्तोत्र की रचना की है। संस्कृत भाषा सबके लिए सुलभ न होने के कारण कवि ने इस सुप्रसिद्ध स्तोत्र के आधार पर हिन्दी में भावानुवाद किया है, जिसे हम 'विवेक-ज्योति'-परिवार के लाभार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं.)

न मंत्रों को जानूँ न हि स्तुति-कला यंत्र-रचना,
न जानूँ आराधन, स्तवन न हि आवाहन-क्रिया।
न मुद्रा, न अर्चन, प्रलपन नहीं कीर्तन-जपन,
मगर जानूँ तुम हो विपद-हारिणी मातु सदया ॥१॥

विधी-अनजानी, धन-बिना, आलस्य अथवा
प्रमादी उन्मादी बन तुम्हाराऽर्चन नहिं किया।
क्षमामूर्ति माते, दीन-आर्तोद्धारिणी शिवे,
कुपुत्रों को देखा, नहिं कभी होती कुमाता ॥२॥

धरा पर बसते, सरल अगणित सुत तुम्हारे,
उन्हीं में मैं भी, अति चपल बालक अकेला।
मुझे त्यागोगी, इस तरह, क्या यह उचित हैं
कुपुत्रों को देखा, नहिं कभी होती कुमाता ॥३॥

कभी भी मैंने की न तेरी चरण-सेवा,
न तेरी पूजा में ही, धन कभी अर्पित कर सका।
तथापि तुम करती नित्य मुझ पर स्नेह-सिंचन,
कुपुत्रों को देखा, नहिं कभी होती कुमाता ॥४॥

अनेकों देवों को पूजा, अब हुई आयु पचासी
उन्हें तजकर आया, अब तुम्हारी शरण जननी।
नहीं होती अब भी यदि कृपा-दृष्टी तुम्हारी
जननि गणपति की, क्या दशा होगी हमारी ॥५॥

अधूरा भी यदि हो कर्णगोचर मंत्र तेरा
अपढ़ भी हो जाता निमिष भर में मधुर वक्ता।
महा निर्धन भी ले विहरता कोटिमुद्रा
जपे विधिपूर्वकं, तो कहो फिर क्या न होगा ॥६॥

चिता-भस्म-धारी सर्प-गल-हारी पशुपति,
कपाली, दिक्-अंबर, नीलकण्ठी, जटाधारी।
रहे 'भूतेश' पहले फिर मिली 'विश्वेश' पदवी,
ग्रहण की जबसे पाणि तेरी, माँ भवानी ॥७॥

न मुक्ति चाहूँ मैं और धन-वैभव न चाहूँ
न सुख की आकांक्षा या बनूँ मैं ब्रह्मज्ञानी।
यही मांगूँ माता जन्म मेरा जाय जपते,
मृडानी रुद्राणी पार्वती शिव शिव भवानी ॥८॥

कभी नियम सहित मैं कर सका पूजा न तेरी,
निरन्तर ही किया अपराध कटु जिह्वा ने मेरी।
हुई तब भी अगर इस दुष्ट पर जो कृपा भारी,
तुम्हीं को शोभती है जननि, यह करुणा तुम्हारी ॥९॥

बहुत ही कष्ट पाकर माँ तुझे मैं पुकारूँ अब,
बुरा मत मानना, हे दयामयि तुम जानती सब।
नहीं इसको समझना तुम हमारी दुष्टता ही
तभी रोता शिशु, तृष्णा-क्षुधा है सताती जब ॥ १०॥

माँ, इसमें विस्मय ही क्या है !
यदि मुझ पर करुणा है इतनी।
कितना भी हो दुष्ट पुत्र यदि
नहीं उपेक्षा करती जननी ॥

मुझ जैसा पातकी नहीं,
है पापनाशिनी तुम जैसी।
यही जान तुम करो मातु अब,
जैसी उचित लगे वैसी ॥१२॥

आध्यात्मिक-प्रश्नोत्तरी

(विवेक-ज्योति के प्रारम्भिक वर्षों में प्रकाशित पाठकों के प्रश्न तथा तत्कालीन सम्पादक ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी के उत्तर। – सं.)

१७. प्रश्न – *सभ्यता और संस्कृति क्या एक दूसरे के पर्याय हैं? यदि नहीं, तो उनमें क्या अन्तर है?*

उत्तर – नहीं, दोनों में भेद है। मन और शरीर के समान संस्कृति और सभ्यता भिन्न भिन्न हैं। हर जाति का एक लक्ष्य होता है – चाहे जागतिक हो या आध्यात्मिक। प्रत्येक जाति या राष्ट्र अपने इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील है। उसका यह प्रयत्न दो स्तरों पर प्रकाशित होता है – एक शरीर के स्तर पर, जो वेशभूषा, खानपान, आमोद-प्रमोद आदि के रूप से प्रकट होता है और दूसरा मन के स्तर पर, वैचारिक मान्यताओं के रूप में सामने आता है। प्रथम स्तर को सभ्यता और दूसरे को संस्कृति कहते हैं। अत: संस्कृति को सभ्यता का मन कहा जा सकता है और सभ्यता को संस्कृति का शरीर।

१८. प्रश्न – *हठयोग की क्रियाओं से क्या लाभ होता है? मैं कई वर्षों से ऐसी क्रियाओं का अभ्यास कर रहा हूँ पर कोई आध्यात्मिक प्रगति नहीं दिखती।*

उत्तर – हठयोग से शरीर स्वस्थ रहता है, यह उसका लाभ है। उसका दोष यह है कि उसकी क्रियाओं पर ही विशेष जोर देने से वह मनुष्य को शरीर में बाँध देता है। साधक हरदम शरीर और स्वास्थ्य के सम्बन्ध में सोचता रहता है, इससे उसकी दृष्टि मन के विकास की ओर नहीं जा पाती। आध्यात्मिक प्रगति मन के विकास का ही दूसरा नाम है। अत: मानसिक विकास के लिए अध्यात्म के इच्छुक साधकों को प्रयत्नशील होना चाहिए। हठयोग की क्रियाओं पर अधिक जोर देने से मन का विकास कुण्ठित हो जाता है। इसलिए हठयोग का उतना ही अभ्यास करना चाहिए जितने से शरीर स्वस्थ और निरोग रहे। आध्यात्मिक प्रगति के लिए जप और ध्यान का अभ्यास करना चाहिए।

१९. प्रश्न – *क्या पुनर्जन्मवाद की वैज्ञानिक भित्ति है?*

उत्तर -- वैज्ञानिक भित्ति से आपका क्या तात्पर्य है? यदि आपका मतलब युक्तियुक्तता से हो, तो पुनर्जन्मवाद पूरी तरह युक्तियुक्त है। जगत् के जीवों के और विशेषकर मानवों के बीच की विभिन्नता का समाधान अन्य किसी वाद से नहीं हो सकता। कोई मनुष्य निर्धन है और कोई धनी, कोई रोगी है और कोई स्वस्थ, कोई अल्पबुद्धि है और कोई मेधावी – इन समस्त भेदों का यौक्तिक समाधान केवल मात्र पुनर्जन्मवाद से ही हो सकता है। और वैज्ञानिक प्रणाली तो यह है कि जो सिद्धान्त किसी क्षेत्र में सर्वाधिक शंकाओं का समाधान करे, वह उतना ही ग्राह्य होगा। इस दृष्टि से पुनर्जन्मवाद मानव-समाज में फैली विषमताओं का तर्कसंगत विवेचन प्रस्तुत करता है और उनसे अपने आपको बचाकर शान्ति के पथ पर ले जाने का उपाय भी प्रदर्शित करता है।

२०. प्रश्न – *आज मनुष्य विज्ञान के सहारे नयी सृष्टि रच रहा है – वह नये उपग्रह बनाकर अन्तरिक्ष में छोड़ रहा है। कृत्रिम गर्भाधान भी सफल हो चुके हैं। ऐसे प्रयोग चले हैं जिनसे मातृगर्भ का सहारा न लेते हुए भी प्रयोगशाला में शिशु जन्म ले सकेगा। ऐसी दशा में ईश्वर का स्थान कहाँ होगा?*

उत्तर – तात्त्विक ज्ञान की दृष्टि से वेदान्त की ज्ञान-प्रणाली सर्वश्रेष्ठ है। वेदान्त की दृष्टि से प्रत्येक जीव ही शिव है, हर आत्मा ही परमात्मा है। अज्ञान के कारण मनुष्य अपने ईश्वरत्व का बोध नहीं कर पाता। इसका मतलब यह हुआ कि मनुष्य भी ईश्वर के ही समान सब कुछ करने में समर्थ है, उसमें अनन्त शक्ति है। हाँ, उसे इस शक्ति के प्रकटन का उपाय जानना चाहिए।

मनुष्य दो धरातलों पर कार्य करता है – शरीर और मन। यदि वह अज्ञान के बन्धनों को काट सके, तो वह दोनों धरातलों पर असीम शक्तिसम्पन्न हो जायेगा। शरीर भौतिक धरातल है और इसी पर विज्ञान की अलौकिक शक्तियाँ प्रकट हुई हैं। मनुष्य जो नयी सृष्टि रच रहा है, उपग्रह आदि बना रहा है – यह इसी सत्य की पुष्टि करता है कि मनुष्य में अनन्त शक्ति विद्यमान है – जैसे बाहरी जगत् के सन्दर्भ में, वैसे ही भीतरी (अध्यात्म) जगत् के सन्दर्भ में भी। यदि किसी दिन गर्भ के बाहर प्रयोगशाला में शिशु का जन्म हो जाय, तो उससे ईश्वर को कोई आँच न आयेगी, बल्कि इससे तो मनुष्य का ईश्वरत्व ही सिद्ध हो जायेगा।

गड़बड़ी तब पैदा होती है, जब हम ईश्वर को व्यक्तिविशेष समझते हैं और उसके बारे में कल्पना करते हैं कि वह कहीं विराजित होगा और वहाँ से विश्व का काम-काज चला रहा होगा। ईश्वर वास्तव में ऐसा नहीं है। वह तो विश्व मे सर्वत्र व्याप्त 'नियम' (Law) है, अथवा, आइंस्टीन की भाषा में कहें तो 'महत् बुद्धि' (Supreme Intelligence) है। जैसे धर्म इस 'महत् बुद्धि' अथवा 'सर्वव्यापी नियम' की खोज है, उसी प्रकार विज्ञान भी इसी की खोज है। नयी सृष्टि बनाने या उपग्रह रचने या प्रयोगशाला में शिशु पैदा करने के मिस से वस्तुत: विज्ञान उस अनुस्यूत नियम या 'महत् बुद्धि' को ही पकड़ना चाहता है। जिस दिन वैज्ञानिक उस सर्वानुस्यूत नियम

को पकड़ लेगा, उस दिन वह ईश्वर ही हो जायेगा। धर्म भी ठीक यही बात कहता है। धर्म से मेरा तात्पर्य वेदान्त से है।

यदि आप इस दृष्टिकोण से विचार करें तो देखेंगे कि विज्ञान और ईश्वर कोई परस्पर-विरोधी तत्त्व नहीं हैं। विज्ञान का अर्थ उसके आविष्कार नहीं होने चाहिये। विज्ञान, ज्ञान की अनुसन्धानात्मक प्रवृत्ति को कहते हैं। जब हम इन्द्रियग्राह्य जगत् को छानबीन का विषय बनाकर उस सर्वानुस्यूत नियम को पकड़ने जाते हैं, तो वह 'विज्ञान की प्रणाली' कहलाता है और जब मन को खोज का विषय बनाकर उस ओर बढ़ते हैं तो 'धर्म की प्रणाली' के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मनुष्य का ईश्वरत्व अकाट्य है। इसी अर्थ में वेदान्त कहता है कि मनुष्य ईश्वर ही है। अज्ञान की परतें खुलने मात्र से ही वह छिपा ईश्वरत्व प्रकट हो जाता है। विज्ञान उत्तरोत्तर मनुष्य के इसी ईश्वरत्व को प्रकट कर रहा है।

२१. प्रश्न – *गीता में एवं धर्मग्रन्थों में अन्यत्र 'स्थितप्रज्ञ' पुरुष की जो विशेषताएँ बतायी गयी हैं, उनमें ऐसा लगता है कि स्थितप्रज्ञ पुरुष मानो पाषाण या जड़वस्तु हो, जिसमें कोई चेतना न हो, – वह सुख-दुःख, शीत-उष्ण में अविकारी रहता है। क्या मनुष्य की ऐसी स्थिति सम्भव है? यदि है तो क्या वह उपादेय है? पागल मनुष्य भी तो ऐसा ही बरताव करता है।*

उत्तर – धर्मग्रन्थों में स्थितप्रज्ञ पुरुष के जो गुण बताये गये हैं, उनकी प्राप्ति जीवन में सम्भव है। पर वह कोई जड़ अवस्था नहीं है। वहाँ पर चैतन्य अत्यन्त तीव्र रूप से स्पन्दित होता है। जो लक्षण गीता में स्थितप्रज्ञ के बताये गये हैं, वे उस पुरुष के मनोभाव के बाहरी प्रकाश हैं। इस स्थिति को पहुँचा हुआ व्यक्ति मानसिक सन्तुलन की अवस्था को प्राप्त करता है। अनुकूल प्राप्त होने पर वह सुख से फूलता नहीं, प्रतिकूल प्राप्त होने पर उद्विग्न होता नहीं। तात्पर्य यह कि वह अनुकूलता-प्रतिकूलता और इसी प्रकार सारे द्वन्द्वों को प्रकृति का प्रवाह मानता है। वह स्वयं को इस प्रवाह से परे समझता है – साक्षी के रूप में। इसीलिए वह निर्द्वन्द्व होता है। यह अवस्था सतत अभ्यास से प्राप्त हो सकती है – विवेक और वैराग्य के अभ्यास से लोगों ने इस स्थिति को प्राप्त किया है।

यह अवस्था उपादेय भी है, बल्कि यों कहें, यही अवस्था समस्त रचनात्मक शक्ति की नींव है। इसको समझाने के लिए एक उदाहरण है। आप कोई मैच देख रहे हैं। आप दोनों दलों में से किसी की ओर नहीं हैं। आप निष्पक्ष दर्शक हैं। मैच देखने में आपको अधिक आनन्द मिलेगा या किसी विशेष टीम के समर्थक को? निश्चय ही आपको। किसी भी टीम से जुड़ा हुआ व्यक्ति आपके समान आनन्द नहीं उठा सकता। वह तो अपने दल की हार-जीत से चिन्तित रहेगा। दूसरे दल के खिलाड़ी का सुन्दर खेल उसे कोई आनन्द न दे सकेगा। पर आप निष्पक्ष हैं, निर्दलीय हैं, अत: दोनों ओर के खिलाड़ियों के खेल का आनन्द ले सकते हैं। ठीक वैसे ही स्थितप्रज्ञ पुरुष सुख-दु:ख, शीत-उष्ण आदि द्वन्दों में दोनों ही विपरीत अवस्थाओं का आनन्द उठाता है; तात्पर्य यह कि वह सुख के ही समान दु:ख में भी आनन्द का प्रकाश देखता है। अवश्य, यह बहुत ऊँची अवस्था है, पर असम्भाव्य नहीं। हमारे आध्यात्मिक ग्रन्थ इसी को जीवन के लक्ष्य के रूप में निर्देशित करते हैं।

पागल के बाह्य कार्यकलाप देखने में स्थितप्रज्ञ-जैसे लगते हैं, पर पागल और स्थितप्रज्ञ में आकाश-पाताल का भेद है। कल्पना कीजिए – प्रकाश के अभाव में जो अन्धकार रहता है उसकी और साथ ही चौंधियाती रोशनी की। ऊपर ऊपर से दोनों समान-से लगते हैं क्योंकि दोनों ही दशाओं में आँखें अपना काम कर नहीं पातीं। पर दोनों में कितना भेद है! यही बात पागल और स्थितप्रज्ञ की है। एक में अज्ञान-विक्षिप्तता का अन्धकार; दूसरे में ज्ञान-सुबोधता का चौंधियाता प्रकाश।

❖ (क्रमश:) ❖

उत्तम स्वास्थ्य के उपाय (३)

❑ प्रात:भ्रमण के पश्चात् एक कप गरम पानी में एक चम्मच शहद और कुछ बूँद नींबू का रस डालकर पीने से लाभ होता है। इससे फालतू चर्बी घटती है और देह-मन में फुर्ती आती है।

❑ प्रात:भ्रमण के आधे घण्टे बाद नाश्ता करना चाहिये। नाश्ते में अंकुरित चने, मूँग या मूँगफली खाना चाहिये। यदा-कदा स्वाद में परिवर्तन के लिये उबले हुए चने या मूँग लिये जा सकते हैं। साथ ही नाश्ते में मुरमुरे, आटे की रोटियाँ, उबली हुई सब्जी, दूध और केला, पपीता, अमरूद आदि में कोई दो-एक फल भी अवश्य रहें। सप्ताह में एक दिन घर में बनी पूड़ी या पराठा भी खाया जा सकता है, परन्तु केक, समोसा, कचौड़ी आदि वर्जनीय है।

❑ भोजन की मात्रा सीमित होनी चाहिये। उतना ही खाया जाय, जिससे शरीर में हल्कापन बोध हो। उससे अधिक खाना उचित नहीं।

❑ नाश्ता करने के आधे घण्टे बाद ही पानी पीना चाहिये। खाने के साथ बीच बीच में पानी पीते रहना बड़ी हानिकर आदत है। ❖ (क्रमश:) ❖

श्री सदानन्द योगीन्द्र कृत

वेदान्त-सार (५)

स्थूल शरीर का स्वरूप

स्थूलभूतानि तु पञ्चीकृतानि ।।९८।।

– परन्तु स्थूल शरीर पंचीकृत (पंच भूतों का सम्मिश्रण) है।

पञ्चीकरणं तु आकाशादि-पञ्चसु एकैकं द्विधा समं विभज्य तेषु दशसु भागेषु प्राथमिकान् पञ्चभागान् प्रत्येकं चतुर्धा समं विभज्य तेषां चतुर्णां भागानां स्व-स्व-द्वितीय-अर्धभाग-परित्यागेन भागान्तरेषु योजनम् ।।९९।।

– पंचीकरण इस प्रकार होता है – आकाश आदि पंचभूतों (पाँच तत्त्वों) में से प्रत्येक के दो दो समान विभाग करके, इस प्रकार प्राप्त दस भागों में से, उनमें से प्रथम पाँच भागों के प्रत्येक का चार चार समान भाग करते हैं। फिर प्रत्येक अर्धांश के साथ उस दूसरे अर्धांश के चतुर्थांश जोड़ दिये जाते हैं।

उदाहरण
आकाश-तत्त्व

आकाश ५०%	वायु १२.५%
	अग्नि १२.५%
	आप १२.५%
	पृथ्वी १२.५%

तदुक्तं – 'द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः। स्व-स्व-इतरद्वितीयांशैः योजनात् पञ्च पञ्च ते ।।'' इति ।।१००।।

– जैसा कि कहा गया है – "प्रत्येक भूत के दो समान विभाग करके, प्रत्येक के प्रथम भाग को चार समान भागों में बाँटते हैं। फिर प्रत्येक तत्त्व के दूसरे अर्धांश में बाकी चारों के एक एक चतुर्थांश का योग करते हैं। इस प्रकार पाँचों तत्त्वों में से प्रत्येक में पाँचों प्राप्त हो जाते हैं।" (पंचदशी १.२७)

अस्य अप्रामाण्यं न आशङ्कनीयं त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चीकरणस्य अपि उपलक्षणत्वात् ।।१०१।।

– इसकी प्रामाणिकता के विषय में शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि श्रुति में वर्णित[१] त्रिवृत्करण (तीन भूतों की सृष्टि का कथन) द्वारा पंचीकरण भी उपलक्षित[२] है।

१. छान्दोग्य उपनिषद् ६.३.२.३

२. उपलक्षण – स्वार्थबोधकत्वे सति अन्यस्यार्थापि बोधकं उपलक्षणम् ।। – अपने अर्थ को बताते हुए उसी श्रेणी के अन्तर्गत अन्यार्थ को भी बतानेवाले को उपलक्षण कहते हैं। यथा 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' - 'कौओं से दही की रक्षा करो' – इस वाक्य में उपलक्षण से अन्य पक्षियों से भी उसकी रक्षा करने की बात कही गयी है।

पञ्चानां पञ्चात्मकत्वे समानेऽपि तेषु च 'वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः' इति न्यायेन आकाशादि-व्यपदेशः सम्भवति ।।१०२।।

– पाँचों तत्त्वों में सभी पाँचों का अन्तर्भाव (उपस्थिति) होने से इनमें समानता है, तथापि – "परन्तु उनमें से किसी एक के प्राबल्य (वैशिष्ट्य) के कारण उन्हें उस उस नाम से कहा जाता है" (ब्र. सू. २.४.२२) – इस न्याय के अनुसार इनमें आकाश आदि पृथक् नामकरण उचित हैं।

तदानीम् आकाशे शब्दो अभिव्यज्यते वायौ शब्द-स्पर्शौ अग्नौ शब्द-स्पर्श-रूपाणि अप्सु शब्दस्पर्शरूप-रसाः पृथिव्यां शब्दस्पर्शरूपरस-गन्धाः च ।।१०३।।

– तब (पंचीकरण के बाद) आकाश में शब्द; वायु में शब्द तथा स्पर्श; अग्नि में शब्द, स्पर्श तथा रूप; जल में शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस और पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध अभिव्यक्त होते हैं।

एतेभ्यः पञ्चीकृतेभ्यो भूतेभ्यो भूः भुवः स्वः जनः तपः सत्यम् इति एतत् नामकानाम् उपरि-उपरि-विद्यमानानाम् अतल-वितल-सुतल-रसातल-तलातल-महातल-पाताल-नामकानाम् अधो-अधो विद्यमानानां लोकानां ब्रह्माण्डस्य तदन्तर्गत-चतुर्विध-स्थूल-शरीराणां तद्-उचितानाम् अन्न-पान-आदीनां च उत्पत्तिः भवति ।।१०४।।

– इन पंचीकृत भूतों से, एक के ऊपर एक – भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, तथा सत्य और एक के नीचे एक – अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल, पाताल (चौदह लोकों)[३] से युक्त ब्रह्माण्ड तथा उनमें निवास करनेवाले चार प्रकार के स्थूल शरीर और उनके उपयुक्त भोज्य-पेय आदि की उत्पत्ति होती है।

चतुर्विध-शरीराणि तु जरायुज-अण्डज-स्वेदज-उद्भिज्ज-आख्यानि ।।१०५।।

– जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज – ये चार प्रकार के 'स्थूल शरीर' हैं।

जरायुजानि जरायुभ्यो जातानि मनुष्य-पशु-आदीनि ।।१०६।।

– जरायु (गर्भ) से उत्पन्न होनेवाले मनुष्य, पशु आदि को 'जरायुज' कहते हैं।

अण्डजानि अण्डेभ्यो जातानि पक्षि-पन्नग-आदीनि ।।१०७।।

– अण्डों से उत्पन्न होनेवाले पक्षी, सर्प आदि को 'अण्डज' कहते हैं।

३. इन चौदह लोकों का 'विष्णु-पुराण' में सविस्तार वर्णन है।

स्वेदजानि स्वेदेभ्यो जातानि यूक-मशक-आदीनि ।।१०८।।

– पसीने (नमी) से पैदा होनेवाले जूँ, मच्छर आदि को 'स्वेदज' कहते हैं।

उद्भिज्जानि भूमिम् उद्भिद्य जातानि लता-वृक्ष-आदीनि ।।१०९।।

– भूमि को भेदकर उत्पन्न होनेवाले लता, वृक्ष आदि को 'उद्भिज' कहते हैं।

अत्रापि चतुर्विध-सकल-स्थूलशरीरम् एक-अनेक-बुद्धि-विषयतया वनवत्-जलाशयवत्-वा समष्टिः वृक्षवत्-जलवत्-वा व्यष्टिः अपि भवति ।।११०।।

– यहाँ भी चारों प्रकार के सभी स्थूल शरीर, एक या अनेक के आशय से, वन या जलाशय के समान समष्टि तथा वृक्ष या जल के समान व्यष्टि भी होते हैं।

एतत्-समष्टि-उपहितं चैतन्यं वैश्वानरो विराट् इति उच्यते सर्व-नर-अभिमानित्वात् विविधं राजमानत्वात् च ।।१११।।

– स्थूल शरीरों की यह समष्टि उपाधियुक्त चैतन्य, सर्वदेह-अभिमानी होने से 'वैश्वानर' तथा विविध प्रकार से अभिव्यक्त होने के कारण 'विराट्' कहलाता है।

अस्य एषा समष्टिः स्थूलशरीरम् अन्नविकारत्वात् अन्नमयकोशः स्थूलभोगायतनत्वात् च स्थूलशरीरं जाग्रत्-इति च व्यपदिश्यते ।।११२।।

– अन्न का विकार होने के कारण स्थूल शरीरों की इस समष्टि को 'अन्नमय कोश' कहा जाता है और स्थूल विषयों के भोग का आश्रय होने के कारण 'स्थूल शरीर' और 'जाग्रत' (अवस्था) भी कहा जाता है।

एतत् व्यष्टि उपहितं चैतन्यं विश्व इति उच्यते सूक्ष्म-शरीर-अभिमानम् अपरित्यज्य स्थूल-शरीर आदि-प्रविष्टत्वात् ।।११३।।

– सूक्ष्म शरीर का अभिमान त्यागे बिना ही स्थूल शरीर आदि में प्रविष्ट होने के कारण, इस व्यष्टि उपाधियुक्त चैतन्य को 'विश्व' कहते हैं।

अस्य अपि एषा व्यष्टिः स्थूलशरीरम् अन्न-विकारत्वात् एव हेतोः अन्नमय-कोशो जाग्रत्-इति च उच्यते ।।११४।।

– इस (जीव) के व्यष्टि स्थूल शरीर को (भी) अन्न का विकार होने से 'अन्नमय कोश' और 'जाग्रत' (अवस्था) कहते हैं।

तदानीम् एतौ विश्व-वैश्वानरौ दिक्-वात-अर्क-वरुण-अश्विभिः क्रमात् नियंत्रितेन श्रोत्र-आदि-इन्द्रिय-पञ्चकेन क्रमात् शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धान् अग्नि-इन्द्र-उपेन्द्र-यम-प्रजा-पतिभिः क्रमात् नियंत्रितेन वाक्-आदि-इन्द्रिय-पञ्चकेन क्रमात् वचन-आदान-गमन-विसर्ग-आनन्दान् चन्द्र-चतुर्मुख-शङ्कर-अच्युतैः क्रमात् नियंत्रितेन मनो-बुद्धि-अहङ्कार-चित्त-आख्येन-अन्तरिन्द्रिय-चतुष्केण क्रमात् सङ्कल्प-निश्चय-अहङ्कार्य-चैत्तान् च सर्वान् एतान् स्थूलविषयान् अनुभवतः । 'जागरित-स्थानो बहिःप्रज्ञः' इत्यादि-श्रुतेः ।।११५।।

– इस (जाग्रत अवस्था) में विश्व (स्थूल व्यष्टि) तथा वैश्वानर (स्थूल समष्टि) – दोनों ही दिशा, वायु, सूर्य, वरुण तथा अश्विनीकुमारों नामक देवताओं द्वारा नियंत्रित होकर, कर्ण आदि (त्वचा, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण) पाँच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध का (अनुभव करते हैं) और प्रजापति आदि (अग्नि, इन्द्र, विष्णु, यम तथा प्रजापति) देवताओं के द्वारा नियंत्रित होकर क्रमशः वाक् आदि (हस्त, पाद, पायु तथा उपस्थ) पाँच कर्मेन्द्रियों से क्रमशः वचन, ग्रहण, गमन, उत्सर्जन तथा आनन्द का (अनुभव करते हैं) और चन्द्रमा, चतुर्मुख (ब्रह्मा), शंकर तथा अच्युत (विष्णु) नामक देवताओं से नियंत्रित होकर क्रमशः मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त नामक चार अन्तः इन्द्रियों के द्वारा क्रमशः संकल्प, निश्चय, अहंकरण तथा स्मृति-चिन्तन का अनुभव (भोग) करते हैं। ये सब स्थूल विषय होने के कारण ही – "जाग्रत अवस्था में जो बाह्य जगत् का अनुभव करता है।" (माण्डू. उ. ३) आदि श्रुतियों में कहा गया है।[४]

अत्रापि अनयोः स्थूल-व्यष्टि-समष्ट्योः तत्-उपहित-विश्व-वैश्वानरयोः च वनवृक्षवत् तत्-अवच्छिन्न-आकाशवत् च जलाशय-जलवत् तद्गतप्रतिबिम्ब-आकाशवत् च पूर्ववत्-अभेदः ।।११६।।

– यहाँ भी स्थूल व्यष्टि तथा समष्टि उपाधियुक्त विश्व तथा वैश्वानर – ये दोनों वन तथा वृक्ष से सीमित आकाश और जलाशय तथा जल में प्रतिबिम्बित आकाश के समान ही पूर्ववत् अभेद हैं।

एवं पञ्चीकृतपञ्चभूतेभ्यः स्थूलप्रपञ्च-उत्पत्तिः ।।११७।।

– इस प्रकार पंचीकृत पंचभूतों से स्थूल प्रपंच, जगत् की उत्पत्ति हुई।

❖ (क्रमशः) ❖

४. इसे निम्नलिखित चार्ट द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है –

देवता	दिक्	वायु	सूर्य	वरुण	अश्विनीकुमार
इन्द्रिय/करण	कर्ण	त्वचा	चक्षु	जिह्वा	घ्राण
विषय/क्रिया	शब्द	स्पर्श	रूप	रस	गन्ध
देवता	अग्नि	इन्द्र	विष्णु	यम	प्रजापति
इन्द्रिय/करण	वाक्	हस्त	पाद	पायु	उपस्थ
विषय/क्रिया	वचन	ग्रहण	गमन	उत्सर्जन	आनन्द
देवता	चन्द्रमा	ब्रह्मा	शंकर	अच्युत (विष्णु)	
इन्द्रिय/करण	मन	बुद्धि	अहंकार	चित्त	
विषय/क्रिया	संकल्प	निश्चय	अहंकरण	स्मृति-चिन्तन	